मेरा सब कुछ तेरा

•

•

स्वामी प्रकाशानन्द वेदान्त केशरी

मेरा सब कुछ तेरा

स्वामी प्रकाशानन्द वेदांत केसरी

प्रथम संस्करण
फरवरी १९७४ ई०

•

मूल्य १-५०

•

मुद्रक :
चन्द्र प्रकाश प्रेस,
वाराणसी-२

•

प्रकाशक :
अखण्ड प्रकाश मण्डल
२०/१ आरमेनियन स्ट्रीट-कलकत्ता-१

विषय-सूची

भक्ति परक ये लेख मानव का दृष्टिकोण बदलने, उसे सुपथ पर अग्रसर करने के लिये कितने अधिक सहायक हो सकते हैं यह तो इनको पढ़नेवाला ही जान् पायेगा। स्वामी जी की पैनी दृष्टि से कोई भी बात छूटती नहीं और उसके महत्व का प्रतिपादन वे इतनी सुन्दरता से करते हैं कि देखते ही बनता है। भगवान् और भक्त, ईश्वर और प्रकृति, जीव और ब्रह्म, चेतन और अचेतन के सम्बन्धों, अवतार, जप, यज्ञ आदि के रहस्यों तथा प्रयोजनों का अंकन जिस कुशलता तथा सक्षमता से आपने किया है उससे आप में हमें भारतीय संस्कृति के महान् तत्वद्रष्टा के दर्शन होते हैं।

—डा० हीरालाल तिवारी
अध्यक्ष हिंदी विभाग
गौहाटी विश्वविद्यालय

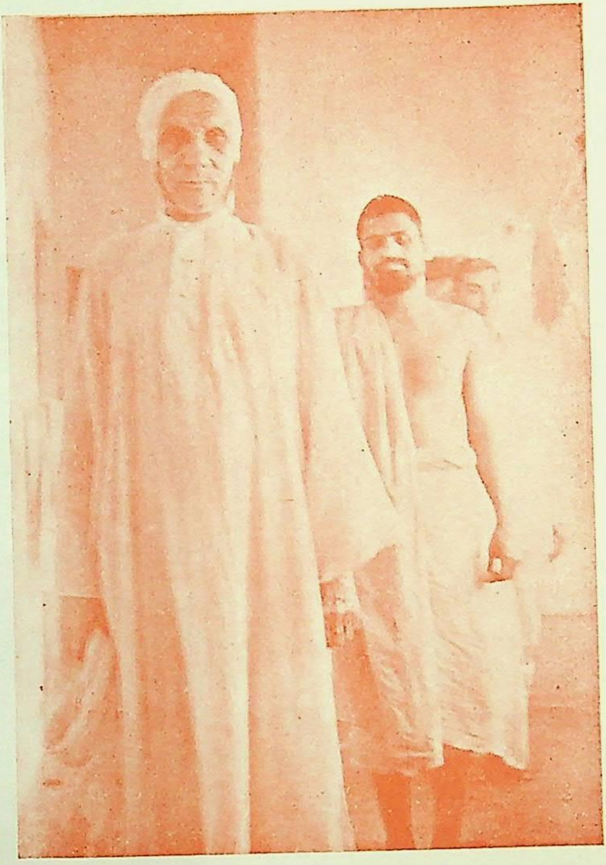
दो शब्द

है नमस्कार नित गुरुवर को, सच्चित्सुखसिन्धु महेश्वर को।
देहाभिमान निशितमहर को, वैराग्य ज्ञानयुत दिनकर को।।
प्रतिबिम्ब बिम्ब से भिन्न नहीं, प्रतिबिम्ब बिम्ब ही है जैसे।
है चिदाभास ही त्यों चेतन, वह भिन्न भला होगा कैसे।।
इमि चिदाभास ही जीव पुरा, था स्वयं सच्चिदानन्द सदा।
नहिं भेद तीन का लेश रहा, हो आश्रय मायाशक्ति यदा।।
बन विषय स्वयं उस माया का, जो चिदाभास से युक्त रही।
हो ब्रह्मभाव से च्युत तत्क्षण, जो सदा अविद्यामुक्त वही।।
देहाभिमान में पुनि फँस कर, पुरुषार्थ सर्व का त्याग किया।
था अनात्म जो नाम रूप वह, उसमें ही अनुराग किया।।
उस अनर्थ की धारा में, फँस गया सदा जो दुखदाई।
दुखनाश हेतु सत्कर्म करे, जो भोग सहित हो सुखदाई।।
दो त्याग परम पुरुषार्थ को, पड़ गया विरह के सागर में।
सुख सिन्धु रहा जो परिपूरण, बँध गया विषय सुख मागर में।।
वह कभी राय के चक्कर में, अरु कभी देश के चक्कर में।
हो कभी देव पुनि ही दानव, मानव पशुता के मक्कर में।।
मोह ग्रस्त, था जो विशुद्ध, वह जन्म मरण संसारी सा।
सच्चिदानन्द होकर वह ही, अब राग-द्वेष दुखधारी सा।।
हो उदय कभी वह पुण्य यदि, जो पूर्व जन्म का संचित हो।
निष्काम कर्म करि ईश्वर हित, मल राग द्वेष से वंचित हो।।
ब्रह्मभिन्न सब है अनित्य, यह जान हुआ वैराग्य उसे।
परलोक लोक के भोगों में, लखकर अनित्यता राग किसे।।
ब्रह्मात्मभाव जो गम्य सदा, वेदान्त वाक्य से होता है।
साधन युत गुरु की सेवा से, अज्ञान कालिमा धोता है।।
"तू ब्रह्म सदा" उपदेश यही, वेदान्त श्रवण गुरु से करता।
मैं ब्रह्म यही निश्चय उसका, अज्ञान ध्वान्त उर से हरता।।

मैं ब्रह्म जानकर ब्रह्म सदा, अरु मृत्यु भेद में पाई है।
वेदान्त शास्त्र की मर्यादा, इस भांति वेद में गाई है॥
मैं ब्रह्म सभी जग ब्रह्म सदा, सब वस्तु ब्रह्म से भिन्न नहीं।
यदि अधिष्ठान होवे रज्जू, क्या सर्प रज्जु से भिन्न कहीं॥
जब ब्रह्मनिष्ठ गुरुवर मिलते, तब सकल विश्व मम रूप बना।
हूं व्यापक मैं सर्वत्र सदा, है आत्म सूर्य जग धूप बना॥
ज्ञान नेत्र से जब देखें, हर वस्तु ब्रह्म निर्धारित है।
है अस्ति भाति प्रिय परिपूरण, अरु नाम रूप निर्वारित है॥
अवधूत शिरोमणि जग प्रहरी, वेदान्त केशरी को जानो।
हैं सर्व रूप में स्वयं सदा, निज इष्ट देव उनको मानो॥
है दृष्टि समन्वित अपने में, हर शब्द वस्तु का रूप सदा।
निज रूप लखाते श्रीगुरुवर, लिखि लेख ब्रह्म अनुरूप सदा॥
है गति स्वतन्त्र उनकी निशि दिन, सब वस्तु ब्रह्म ही दिखलाते।
सब जगह लखें सब अपने को, यह ज्ञान नित सिखलाते॥
जन जीवन में उपयोगी जो, प्रतिदिन जिससे सब काम करें।
वह वस्तु ब्रह्म यह प्रतिपादन, स्वामी जी ललित ललाम करें॥
है शकर खिलौने में शक्कर, अरु भूषण जैसे सोना है।
है शस्त्र लोह पुनि घट मिट्टी, त्यों ब्रह्म जगत् का होना है॥
यह प्रतिपादित समुचित ढंग से, श्रीस्वामी जी के लेखों में।
है निज अनुभव सर्वत्र भरा, है चित्र रचित ज्यों रेखों में॥
धरि ध्यान रहे पुनि गुरु निष्ठा, जो पढ़े सुने इन लेखों को।
हो पूर्ण ब्रह्म ज्ञानी तत्क्षण, वह दे उखाड़ भव मेखों को॥
है निज प्रकाश आनन्द भरा, इस रत्न लेख के पुंजों में।
सर्वदानन्ददायी गुरूवर, हैं भक्तों के हियकुंजों में॥
लिख दिया शब्द जो आज्ञा पा, श्रद्धा युत वही समर्पित है।
मैं ब्रह्म सदा सब ब्रह्म यही, निश्चय युत पूजन अर्पित है॥
है प्रणाम श्रीगुरुवर को, जिससे सब भ्रम का चूर हुआ।
है आप आपही में अर्पित, आनन्द सिन्धू भरपूर हुआ॥

स्वामी सर्वदानन्द परमहंस

परमपूज्य श्री गुरुदेव के साथ लेखक



परमपूज्य अनन्त श्री विभूषित

श्री स्वामी अखण्डानन्द जी महाराज

और

स्वामी प्रकाशानन्द अवधूत

१.

तृप्ति

अभिन्नत्व की निशानी तृप्ति है। मिलन तो बाह्य भी हो सकता है परन्तु उसमें तृप्ति नहीं। बार-बार मिलने की, देखने की अभिलाषा बनी ही रहती है। अत: साकार हो या निराकार दोनों में अभिन्नत्व में 'निजरूपता में' शांति एवं तृप्ति है।

भोजन जब तक दूर रहे, दीखता रहे, तब तक सन्तोष नहीं? जब वह जीभ, मुख द्वारा पेट में पहुँचकर पचकर सारे शरीर में अभिन्न न हो तब तक स्वास्थ्य शान्ति संतोष नहीं होता। तद्वत् साकारोपासकों या निराकार के उपासकों को भी तभी संतोष होगा या होता है जब वे स्वयम् साकार या निराकार उपास्य से तद्रूप अपने को न समझें।

परन्तु विवेक से देखने पर साकारवालों को निराकार वाले या निराकार वालों को साकार वाले यदि असंतोष के कारण हैं तो इसी से कि न वे समझें न ये ही। हर साकार में निराकार व हर निराकार में साकार स्थित है। बिना दोनों के मिले दोनों का ही जीवन नहीं है। हर निराकारी को अपना देह साथ लगेगा ही–किसी का चिन्तन करने को। एवं हर साकारी को अपना निराकार मन, प्राण बुद्धि एवं अपना स्वरूप–जीवत्व–साथ लगेगा ही। चाहे झगड़ते रहें, परन्तु दोनों का काम दोनों के बिना पूर्ण नहीं हो सकता। इन्द्रियाँ साकार तो उनके विषय व उनकी वृत्तियाँ निराकार हैं। उनकी शक्तियाँ निराकार साथ ही हैं। सारा विश्व इन दोनों ही रूपों में है। और दोनों ही दोनों में सदैव घुटते आ रहे हैं।

देखिये! भोजन और भूख। एक साकार तो एक निराकार। भूख बिना भोजन व भोजन बिना भूख की कोई कीमत नहीं। निराकर भूख साकार भोंजन को खा

जाती है । परन्तु आश्चर्य तो यह कि भोजन भी भूख को खा जाता है, जो कि निराकार है। निराकार साकार को व साकार निराकार को खाता-अपने में मिलता हुआ दिखाई देता है। फिर दो या दोनों में झगड़े कहाँ हैं ? यह तो विचित्र प्रेम एवं प्रेम क्रीड़ा है दोनों की। परन्तु क्यों ? यों कि दोनों के अभिन्नत्व में ही तृप्ति होती है अन्यथा नहीं।

अतः साकार निराकार दोनों भावों में एकत्त्व देखकर सारे विश्व के साथ आत्मीयता की भावना जग उठती है। मैं ही शरीर सहित साकार एवं शरीर का साक्षी चैतन्य होने के कारण निराकार हूँ। और जो भी इस प्रकार सम्पूर्ण विश्व में निराकार साकार उभयात्मक देखा जाता है तभी एक अखण्ड 'तृप्ति' जो हाथ आती है उसे प्राप्त कर इन इन्द्रियों को मन बुद्धि चित्त व अहं को किसी ओर भूखी आँखों से देखने की इच्छा नहीं रह जाती। भूखी आंखें कब किसी को रक्षा करना जानती हैं ? 'तृप्ति' में भोजन न अखरता है न उसे मिटने का भय ही रहता है। तद्वत 'तृप्ति' के अधिकारियों को विश्व के समस्त भोग नहीं आकर्षित कर पाते न उनसे किसी भोग व भोगी को ही भय रहता है। क्योंकि वह तृप्त है।

और इस तृप्ति के बिना निष्काम सेवा कर्तव्य एवं विश्व कल्याण किसे करना आ सकता है ?

• •

२.

ये तृप्ति के गोले

गुड को देखा तो मुँह में पानी आ गया। पाने की इच्छा हो गई। पाया और पाने पर तृप्ति हो गई। यह मिठाई देखी यह फल फूल अन्न सब देखा। चाह हुई, पाकर तृप्ति हुई। यह सारा संसार, इसका हर कण, हर रूप किसी न किसी की इच्छा का ही फल है एवं पाने पर तृप्ति हो ही जाती है। तो क्या इनमें सबमें तृप्ति रहती है? न होती तो क्यों हो जाती है? शायद वही एक 'तृप्ति' जिस तृप्ति ने ही अपने मजे में ये सारे व्यंजन (नाम रूप) उत्पन्न किये और स्वयम् तृप्त रहकर ही हम सबके लिये छोड़ दिये हैं। यदि वही अतृप्त रहती तो हम तक कहाँ रहते ये?

अर्थात् ये सब तृप्ति के ही गोले हैं। ये हैं भी तृप्ति के, हैं भी तृप्ति के लिये और हम सबकी भूख को खाने के लिये ही होते हैं—तृप्ति के गोले। जब तक हमें किसी भी प्रकार की भूख (चाहे सांसारिक चाहे पारमार्थिक) रहेगी हमें ये मिलते रहेंगे। जभी हमें भूख लगेगी हमें ये सब हमारी भूख के गोले दिखाई देंगे। जब हमारी भूखशांत होगी ये गोले भी न रहेंगे। ये शरीर ये गुरु शिष्य, माता-पिता आदि, पशुपत्ती, लोक-परलोक, स्थावर जंगम, सभी तब तक हैं जब तक प्राप्ति की भूख लगी हो। और वह परमात्मा भी कभी हमारी भूख का विषय होकर तृप्ति का अदृश्य गोला मालूम देता है। परन्तु उसमें भी तृप्ति तभी होती है जब वह हमसे मिलकर हमारी भूख को खा जाये। वह संसार, वह परमात्मा और यह तृप्ति भी किसी न किसी की व कभी किसी की तृप्ति की चीज है। जिधर उधर तृप्ति ही तृप्ति। खाने वाले, खाया जाने वाला और वह जो न खाया जानेवाला सब तृप्ति का ही स्वरूप है। प्रश्न यह है कि जब सर्वत्र सब तृप्ति के गोले ही हैं तो भी तृप्ति के लिये लालायित क्यों? बस एक कारण से कि मैं स्वयम् तृप्ति स्वरूप हूँ यह न जानकर ही अन्य को जो तृप्ति का गोला होता है प्राप्त करके तृप्ति की आशा होती रहती है। जिसने यह समझा कि स्वयम् तृप्ति स्वरूप है वह अन्यत्र वृत्ति नहीं दौड़ाता। 'तृप्ति'।

३.

उसका प्रेम

एक बच्चे को उसके पिता ने नयी कमीज पहनायी। खेलते-खेलते साथियों के झगड़े में एक ने कमीज को फाड़ दिया। बच्चे को उसके उस फटने की आवाज में अजीब नाद मालूम पड़ा। और घर आने पर जब उसने पिता से कहा कि साथी बच्चे ने कपड़ा फाड़ दिया तो पिता ने दूसरी कमीज पहनायी। परन्तु बच्चे ने फिर तो आप ही उसे फाड़-फाड़कर उसी बच्चे का नाम लिया। पिता ने फिर दूसरी कमीज पहनायी। परन्तु एक समय पिता ने देखा कि बच्चा खुद ही कपड़ा फाड़ रहा है और बड़ा खुश हो रहा है। पिता ने क्रोध से उसे दो चाँटे लगाये और पूछा "यह क्या कर रहा है? तू कहता था उस बच्चे ने फाड़े हैं और अब तूही फाड़ रहा है? बच्चे ने कहा "पिताजी पहले तो उसी ने फाड़े थे परन्तु बाद में अब मैंने ही फाड़े हैं। पिता ने पूछा—क्यों? बच्चा बोला—पिता जी आप पहनाते तो हैं ही परन्तु मोहि कपड़ा फटे मां चर्र नीक लागत है।" यह चर्र की जो आवाज है वह मुझे ठीक लगती है। "पिता ने कहा", तो अब कपड़ा नहीं मिलेगा।" इसी प्रकार।

मुझे भी यह ज्ञात हुआ कि 'उसका' मुझ पर अनन्य एवं अतुल प्रेम है। और उसने उस प्रेम के पीछे अपने यहाँ अपने राज्य भर के एक से एक कपड़े अपने प्रिय बच्चे के रूप में मुझे पहनाये। मानव दानव, पशुपच्छि, देवयच्छ पितर, गंधर्व, ब्रह्मा, विष्णु महेश, इन्द्र चन्द्र कुबेर, कीट पतंगआदि समस्त विश्व के नामरूप के सभी कपड़े उसने पहनाये। और मैंने उन्हें कुछ पहना तो बाद में खेल खेल में ही फाड़ डाला। शहंशाह का वेटा मैं आनन्दरूप का वेटा मैं। न वो नाराज हुआ न मैं। उसे पहनाने में खुशी थी मुझे पहनने व खेलते-खेलते फाड़ने में खुशी थी। जितने कपड़ों के प्रकार थे सब पहनाने के बाद मिश्रित कपड़ों को भी पहनाना शुरू किया व मैंने भी उन्हीं सबको फाड़ना शुरू किया।

एक दिन ऐसा आया कि वह पूछ बैठा, "तो क्या अब तुझे कपड़ा पहनना है या नहीं ?" मैंने पूछा "पिता जी, आप क्यों नहीं पहनते ?" इस प्रश्न पर नाराज होने के बजाय वो मुसकराये और बोले, "तो क्या तुझे भी वैसा ही रहना है ? मैंने कहा "आप जैसा न रहूँ तो आपका मैं कैसा ?"

मुझे कपड़े दे देकर कपड़ों में उलझाकर आप अपने से मिलने क्यों नहीं देते ? इसी कारण से मैंने सबको फाड़ना शुरू किया था। कितने दिनों से इस विछोह के कारण मेरा क्रोध इन कपड़ों पर निकल रहा है ? पिता जी ने कहा, "बेटा मैं तो मेरे प्रेम में तेरी प्रसन्नता के लिये ही यह सब कर रहा था। देख मैं तो इन सारे ही कपड़ों में हूँ। वैसे मैं इन सब में रहने पर भी इनसे अलग ही रहता हूँ।" मैंने कहा, "तो पिता जी मैं भी तो इन सब कपड़ों को फाड़-फाड़कर यही बताता रहा हूँ कि इनको पहनते हुए मैं इनसे अलग ही हूँ। मुझे अब पहनने की जरूरत नहीं है। पिताने तब एकदम मुझे प्रेम के अतिरेक में अपनी गोद में लेकर छाती से लिपटा लिया। तब से मुझे यह मान ही नहीं होता कि मैंने कपड़े कभी पहने या उतारे थे फाड़े थे या कि मैं पिता से अलग था या कि मुझे उनसे मिलना है। अब पिता जी का जो है वही मेरा है फाड़ने आदि की धुन समाप्त हो गई है। अब मैं उन्हीं की जाति का, उन्ही जैसा, वही हूँ।

• •

४.

ठिठकी बुद्धि

जब अपना अपने को कुछ नहीं दिखता एवं 'अपना आप' क्या है यह ज्ञान नहीं होता, उस समय सबसे उपरत उसी बुद्धि को 'अपना' जानने की तीव्र जिज्ञासा होती है—जनाने वाले की तलाश होती है। जनाने वाले के पास एकाग्र निष्काम निरोधित वृत्ति से लगन होकर टिकाव होता है तथा प्राप्त होने पर जो कृतज्ञता एवं विशुद्ध आत्मीय प्रेम होता है उसका वर्णन अनुपमेय है। यही वह ठिठकी बुद्धि है, यही वह Pause (विश्राम) है जहाँ से एक ही गुरू ज्ञान का डंडा लगते ही बुद्धि आत्म-तत्त्व का साक्षात्कार प्राप्त करने में सक्षम होती है।

हमारा 'सब कुछ' माना जाने वाला जब हमको 'कुछ नहीं' लगने लगता है, अपने 'सब कुछ' में से जब हम अनुभव के आधार पर खोजते-खोजते 'कुछ नहीं' निकाल पाते हैं; एक प्राप्त एवं दृश्य माने हुये इस भ्रम से आकर्षित परन्तु उस समय अनाकर्षित यह बुद्धि इस जगत से विद्रोह कर उठती है—बागी हो जाती है। उसी विद्रोह का नाम है 'विराग'।

और तब माँग होती है शांति की। तब दृष्टि हेरने लगती है उस मार्ग को जिससे जाकर किसी शान्तिदाता का दर्शन हो। सभी नाम-रूप भोगों से बिचकी-भभकी यह बुद्धि तब किसी पर एकदम विश्वास भी नहीं कर पाती। अशांति का बोझ लादे 'किधर जायें', कौन है इस जगत का आधार, कहाँ है, वह कैसा है ? चाहे तो वही मिले···परन्तु शांति मिले। चाहे कुछ करना पड़ परन्तु अकेलेपन का यह दुःख सहा नहीं जाता। इस एकान्त में जाने क्या-क्या सूझता है—शरीर का भार जगत के प्रति भभक, विराग, घृणा, द्वेष, ठगे गये यह मानकर लज्जा व इन्तजारी में टीस एवं कहीं से शांतिदाता आ सकता है इस भाव से चारों ओर प्रतीक्षा भरी आँखों का बिछना।

परन्तु इतने में बहुत कुछ हासिल हो गया होता है, कभी उत्साह, कभी निराशा, कईयों के ढकोसले, कईयों के झूठे वायदे, ढोल के पोल एवं कई शास्त्र व वक्ताओं के अनुभव तथा धीरे-धीरे उस भटकी (वृत्ति) का ठंडा होना। परन्तु इतने पर भी न मिलने व न जानने की टीस कम नहीं होती। और जब कभी एकाध बार जीवन का अपने ऊपर चढ़े या चढ़ाये गये या लादे गये का बोझ असह्य हो उठता है तो मृत्यु के द्वारा उतरने की आशायें उतारने की प्रबलता भी इसी हालत में होती है।

सहज नहीं पाया जाता अपने को, जैसा कि लोग मान बैठते हैं।

अपने सिवा अपना माना हुआ अपने ऊपर चढ़ा अथवा चढ़ाया हुआ सब कुछ जब अखरे तब उतारने की इच्छा होती है। अनेकों बताये, सोचे या पढ़े साधनों के द्वारा वर्षों खर्च कर दिये जाते हैं; तब, सब कहीं भावों की उन्मादता में इस उपरामता को ही जो अपनी खुराक समझे बैठे होते हैं वे ही जिन्हें चाहते हैं, जो जीवन की इस प्यास को, इस दर्द को, इस हुमस को, ठंढा कर सकते हैं वे परम गुरू परमात्मा ही सद्गुरू के रूप में उसे खोजते हुए, उसके पीछे आते हैं। परन्तु हजार जगह हजार बार ठगा हुआ विश्वास खो चुका होता है। अनमने भाव से सबके सामने किया जाने वाला वह प्रश्न वहाँ भी जब वह दुहराता है कि "प्रभो" वह कौन है? कहाँ है? कैसा है? सद्गुरू कौन है? कहाँ है? मैं नहीं जानता, मुझे मिला दें।" और एक ही बार में वे हृदयी-अन्तर्यामी जो उसी की भावना से, उसी के हृदय से, उसी ने बुलाये, पैदा किये होते हैं, जब बोलते हैं कि "अरे सबसे उपराम होकर, सबसे अलहदा लेकर, शेष रहने वाला जगत से न्यारा, जगत जिसे अब तक न खा पचा सका, सारे जगत को ठुकराने की हिम्मत करने वाले। तू किसे ढूँढ़ता है? सारे जगत का राम हटाकर जग में अनासक्त घूमने वाले! अब और कौन जगत्पति है जिसे तू ढूँढ़ रहा है? वह तो तूही है, प्यारे तू ही है? जिस पर जगत का प्रभाव न पड़ा और जो इतने बड़े जगत के प्रभाव से अछूता है वही परब्रह्म परमात्मा जगत पकड़ने व त्यागने वाला, दोनों हालत में द्रष्टा रहनेवाला तूही तो है। जस का तस होता हुआ भी केवल किसी से कहलवाना चाहता है तू। सो मैंने तुझे पहचान लिया है मायातीत प्यारे! तूही ईश्वर है

साची ग्रात्मा है। जो दिखता है वह तो माया है, जो देखता है वही ईश्वर है, राम है, शिव है, कृष्ण है, ब्रह्म है। तू दिखता नहीं, देखता है। अशांति, राग विरागात्मक सारे जगत को एवं अपने हृदय को देखता हुआ अपने अन्तः-करण का तू ही तो अन्तर्यामी है ? ठहर जा ! अब यहीं रह। यही अन्तिम विश्राम है। अजर अमर अभय केवल साची तू है। और कुछ भी न देख। सारा जगत तेरे सामने निष्प्रभ है।"

और इस प्रकार कहते-कहते सुनते-सुनते ही एक अजीब रोशनी प्राप्त हुई। निज स्मृति हुई निजानुभूति हुई। और राहत मिली, शान्ति हुई। और कुछ लज्जा सी आई अपने पर, किसे ढूंढ़ रहा था मैं। क्या था मैं, क्या हो गया था। क्या बताया इन्होंने ? ठीक ही है। मैं अजर अमर अविनाशी सर्व नियन्ता साचि आत्मा हूँ। वेद जिसे नेति-नेति गाते हैं वह मैं ही हूँ। धन्य है इस महापुरुष को। इन्होंने मेरी आंख में बनी अँधेरी निकाल दी, पट्टी खोली और यह भी कौन है ? अरे यह हैं सद्गुरू ! चरणों में प्रणाम है गुरूदेव। परन्तु हैं ? यह क्या ? यह तो अपना आपही है। आपही आपकी कृपा से आपको आप समझाने आपही आप आया था। और अब तो जिधर उधर आपही आप है। द्वैत गया, अनेक की शान्ति एक में हो गई। शिवोऽहम्।

जिज्ञासु की उस ठिठकी बुद्धि को ही यह अलभ्य लाभ होकर परमपद में वह आसीन हुई। पूर्ण होने के पूर्व गंगा एक बार पसर जाती है, कहाँ— सद्गुरू देव के सामने।

• •

.५

मुर्दा और गिद्ध

गिद्ध मनाता रहता है, यही कि कोई मरे। भूख से तड़पता हुआ वह, दिन रात ऊपर से ऊपर उड़कर मुर्दे की दुर्गन्ध को खोजता है। वही उसका रास्ता हो जाता है उसी पर चलकर धीरे-धीरे वह वहाँ पहुँच जाता है। बड़े से बड़े मुर्दा उसे चाहिये। ऐसे अनेकों गिद्ध होते हैं जो नित्य दिन भर मुर्दों की ताक में उड़ते थकते नहीं। आन्तरिक भूख ऐसे ही उड़ाती है और आप भी तो किसी ऐसे की खोज में टटोलने लगते हैं जो उसे शान्त करे।

मुर्दे को खोजने के ध्यान में तथा कोई मरे इस कुभाव के कारण गिद्ध को बुरा देह, मिला है। परन्तु यह अवश्य है कि जिसे कोई नहीं चाहता उसे यह ही अपना बनाकर उस जड़ पार्थिव शरीर में चेतनता को खोज लेते हैं। डालनेवाले उसे जड़ समझकर फेंक आये परन्तु उसमें चेतनता खोजी तो गिद्ध ने ही।

सांसारिक समस्त भोग, चेतन प्राणी व आकर्षण छोड़ा है गिद्ध ने तभी तो उसे ऐसे शरीर मिलते हैं। क्यों? चेतन को छोड़कर मुर्दे में यह क्यों आसक्त है?

वह देखता है कि समस्त चेतन एवं भोगासक्त रोते-पीटते, लड़ते-झगड़ते हैं व अनुदार हैं; मुर्दे में वह यह नहीं देखता। वह शान्ति उदारता, अविरोधी स्वभाव का उपासक है। किसी प्रकार के भेद-भाव से रहित उस मुर्दे में; सबसे अनासक्त उस मुर्दे में भी किसी को प्रेम हुआ तो इसी गिद्ध को। गीध उत्तम व आदर्श न होता तो मिलते राम उसे? मिलते रामभक्त हनुमान् उसे? जो कहीं भी गन्दगी न रहने दे वह तो आदर्श है। यदि इन गीधों की कृपा न होती तो मानव को रहना मुश्किल हो जाता। आज-

कल के सफाई करने वाले तो मजदूरी करने पर भी वेपरवाही करते हैं परन्तु यह कि ढूँढ़-ढूँढ़ कर बेवतन प्राणी व मानव मात्र की सेवा करता रहता है। हड्डियों को यह नहीं चाहता। जिसमें न रस हो न चेतनता उसे वह क्या करे? जो किसी के दांतों में जाकर उसका भी रक्त पीये वह उसे क्या जरूरत है?

गीधों व मुर्दों का यह अनादि अभिन्न सम्बन्ध है। शायद इन्हीं के लिये ही ये मरते रहते हैं। मुर्दा भी क्या है? न किसी से राग न द्वेष, न मोह, न घृणा, न भय न शोक। समता है शान्ति है, पूर्ण लुटाने की आतुरता है। उदारता है। भूखों की चिन्ता है अपनी नहीं। गीधों की तलाश में, ध्यान में है वह जिसे वे गीध भी दिन रात उसी का ध्यान करते हैं। जंगल शहर जिसे एक हैं, गरीब अमीर जिसे एक हैं, भक्त भगवान् जिसे एक हैं सब में से सबका जो समान रूप से हो चुका होता है वही मुर्दा, गीधों की मांग का उत्तर है। जो गीधों में विलीन होकर तद्रूप धारण करके आपस का भेद मिटाता है जैसे वह गीध भी उसे निजरूप बना-बना कर ही सर्वत्र समान शून्य व्यापक आकाश की सैर सदृश करता हुआ जगत के अन्य किसी भागों में अनासक्त है। इस प्रकार दोनों ही दोनों में विलीन हुये हैं।

आप समझ रहे होंगे कि इस प्रसंग में कौन मुर्दा और कौन गीध है यहाँ। समरस व्यापक जगत से पूर्णतः विकार गुणों के व देहादि के भोग व आसक्ति से ऊपर, निर्भय परमशान्त सबको अपना समझकर सब में अपने को जताकर विलीन होने की निष्ठावाला मुर्दा है-वह तत्वज्ञ जो आत्मपद होता हुआ अपने इस शरीर की जीवनी को लुटाने में तैयार विचरता रहता है एवं जिनकी साधना व लगन से हीं उसका अवतार व गमना-गमन होता है वे हैं गिद्ध रूप जिज्ञासु जो उसके लिये ही समस्त भोगों को छोड़ ऊपर दृष्टिकर जगत को शून्य देखकर व्यापकता की सैर करने की अभिलाषा में रहते हैं। इन दोनों का अभिन्न सम्बन्ध है। यथा फूल का शहद मधुमक्खी व सुगन्ध भौंरा बताता है कि आ गये हैं तद्वत् किसी में साधना की पूर्णता हो गई है यह बताते हैं ये सन्त जो घूम-घूमकर यही देखने में लगे रहते हैं। वैसे ही ये गिद्ध ही उन छिपे हुए उदार महामनाओं को ओर लपक-लपक कर उन्हें प्रगट करते रहते हैं। दोनों ही मर चुके होते हैं। वे भोगों से तो ये आसक्ति से ज्ञान से। इतनी कठिन साधना में जब जिज्ञासु होता है तभी

उसे ढूँढ़ते हुए सन्त गलियों में छुपे हुये को (जिसे वहीं के भी लोग नहीं जानते) जना देते हैं। मुर्दे को ही मुर्दा दिखाई देता है। जिज्ञासु व तत्त्वज्ञ संत दोनों ही मुर्दा हैं पर हैं ये विशेष प्रकार के मुर्दे जो जीते जी ही हैं। राग द्वेष भय चिन्ता देह-भेद व सीमायें जिन्हें छूती नहीं जो सभी से घबराकर हटना चाहकर, पूर्ण होना चाहते हैं वे ही जिज्ञासु इन्हें पाते हैं। क्योंकि ये भी अपनी सारी सीमायें तोड़कर अनन्ताकाश में अनन्त ही हुए होते हैं।

आप क्या हैं ? यह परखें और जिसे चाहें वह लेलें। नहीं तो केवल भोग व देह की आसक्ति में तो आपको जीवन में चिन्ता तो मृत्यु पर चिता में जलना ही होगा। परन्तु इन मुर्दों में से किसी को न दिन में चिन्ता है न मृत्यु का भय। अवश्य ही गिद्ध रूप जिज्ञासुओं को इन महान् पुरुषों को न मिलने तक चिन्ता तो रहती है चिन्ता का भय नहीं होता। मृत्यु तो वे सदा ही वरण करना पसन्द करेंगे इनके खातिर।

सन्त आते हैं, ढँढते आते हैं। आप पहले मरें, जीवित गीधों के समान बनें। आपका गीधपन भी समाप्त हो जायेगा जो केवल इस मांसल देह के सम्बन्ध से होता है। जो सत्संग भवनों में जहाँ अपनी-अपनी रुचि में सन्तों को (जिज्ञासुओं के आकर्षण को) नहीं बुलाते हैं वहाँ वे सन्त नहीं, अपने प्रिय वक्ता को बुलाते हैं। सन्त पत्रों से या बाह्य प्रार्थना से नहीं आपकी अन्तर की तड़फ के साथ सम्बन्धित होते हैं और लाख रोकने पर भी वे उन्हें ढूँढ़ ही लेते हैं जो उन्हें चाहते हैं। सत्संग भवनों में बुलानेवाले तो पुरोहित के समान परिचय-मिलन के ही ठेकेदार होते हैं उन्हें इससे ज्यादा फुरसत नहीं होती। अतः वे जिज्ञासुओं के चयन को या हृदय को नहीं पहचान पाते। वे तो रीझते व रिझाते हैं। यहाँ तो छुट्टा छोड़ दीजिये दोनों को वे अपने-अपने को ढँूढ़ लेंगे। यहाँ मध्यस्थ की कोई दरकार नहीं। मध्यस्थ दलाली करता है। इसी कारण भगवान् भक्त का गुरु-शिष्य का भोग व भोक्ता का नित्य अखण्ड सम्बन्ध है। भगवान् ने ग्राह के लिए गरूड़ (मध्यस्थ) को त्याग दिया। अतः आन्तरिक सम्बन्ध को पहचानिये वहीं से बुलाइये। अन्तरात्मा सब सुनता है, वही सब जगह है, वही कहीं पर कहीं से खोजता-खोजता एक आपकी कल्पना की पूर्ति करने भेज देगा। जो आयेगा वह वही समझें जिसे कहा था तथा जो आयेगा वह भी यही कहेगा कि मैं वही हूँ एवं तू भी वही है।

● ●

६.

हल्का परमात्मा

परमात्मा सर्वत्र है और तब भी सब लोग उसे ढूँढ़ रहे हैं। ढूँढ़नेवाले सभी व्याकुल हैं, परेशान हैं। कोई भी चिह्न नहीं मिलता उसका। इसने पाया उसने पाया ऐसा सुन पढ़कर मन कुढ़ उठता है, लगन पाता है परन्तु न दिखने पर संताप भी कभी हो ही जाता है। जब सब जगह है तो मिलता क्यों नहीं? कुछ तो पता लगे, कुछ तो चिह्न ज्ञात हो?

जो भी कोई होता है उसका जरूर कुछ अस्तित्त्व रहता है। और जिसका अस्तित्त्व रहता है उसका भान अवश्य होता है। जिसका भान होता है उसका अवश्य कुछ भार होता है, वजन होता है। परन्तु दिन रात सुनने पर कि वह सर्वत्र रहता है, सबके हृदय में रहता है–न अन्य किसी ने उसके भार का–वजन का–अनुभव किया। न इस हृदय ने ही बताया कि वह किस तरह इसमें रहता है।

तन खुराक का, बाह्य पदार्थ का मौसम का अनुभव कर लेता है। मन विकारों गुणों का, बुद्धि विचारों की सभा का चित्त वृत्तियों का इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों का अनुभव कर लेती हैं। प्राण बेचारा हर स्पन्दन का अनुभव करते हुये भी अकेला या इन सब के साथ रहकर भी परमात्मा का अनुभव न कर सका। हृदय बेचारा अपने इन ऊपरी तनमनादिकों के बोझ से कभी भले ही व्यथित हो, परमात्मा के न मिलने में भले ही कुढ़े पर भान न कर सका। क्या इतना हल्का है परमात्मा?

यही नहीं कहीं भी—दिव्य से दिव्य एवं अन्य भी त्रिगुणात्मक लोक लोकान्तरों में भी—है तो वहाँ भी ध्यान आदि द्वारा उसे क्यों प्राप्त करने के लिये सब दिखाई देते हैं? यदि वहाँ है तो पकड़ लें।

परन्तु ऐसी रीति से वह रहता है कि किसी को भी उसके रहने का पता नहीं लग पाता। यदि लग जाता तो ये कभी विरुद्ध कर्म कर पाते ? यदि इनके अपने अपने ज्ञेय पदार्थों के सदृश वह होता तो अवश्य ही पकड़ लेते। वह तो अति सूक्ष्म ऐसा रहता है जैसे नहीं रहता। और इसी कारण वह अपने इस हलके स्वरूप के कारण ही विश्व के हर हलके (विभाग) में हलके हलके सबमें हिल-मिलकर रह लेता है।

इसका अर्थ यही है कि वह इन सब में से कोई भी नहीं है। अपने से भिन्न किसी भी पदार्थ का अनुभव चाहे वह कितना भी हलका हो, हो ही जाता है। अतः वह भिन्न नहीं है। तो अभिन्न है ? कैसा है ? हमारे जैसा ही तो वह नहीं है ? शायद ऐसा ही हो। कैसे ?

विचार करने पर यही ज्ञात हुआ कि हम भी तो अपने से भिन्न सबका अनुभव करते हैं अपना तो नहीं करते। भिन्न का ही वजन भार या मान होता है। मन के, तन के, बुद्धि आदि समस्त ज्ञेय के साथ रहते हुये भी हमें अपना भार नहीं होता। न हमें अपना न इन्हें हमारा। इन्हें हमारा हो तो ये हमसे भाग जायें—हमें हो तो हम इनसे भाग जायें। परन्तु हमारा भार इन्हें कदापि नहीं होता। इतना हल्का है अपना आप कि सबमें रहते हुये भी किसी को भार नहीं होता भान न नहीं होता। अब हलके-हलके दो भी हों तो भी भार हो, भान हो जाय। परमात्मा और हम दो हों तो अवश्य ही भार व भान होता। परन्तु इतना हल्का है वह जितना 'मैं'। अतः इस हल्के अपने स्वरूप को पहचानते ही हल्का परमात्मा स्वयम् सर्वत्र सदा हल्का फुलका ही रहता है जिसे किसी के द्वारा खाये जाने का भय नहीं रहता। यदि खाया नष्ट किया जाता तो जाने कितने समय से जन्म मृत्यु के चक्र में से गुजरते-गुजरते नष्ट ही हो जाता। परन्तु जो सदा हल्का ही हो वह किसके द्वारा मिटाया जा सके ?

सभी का यह हल्का स्वरूप है और यही सबके अति समीप अर्थात परम होने के कारण परम-आत्मा है। अपना परमात्म स्वरूप इस प्रकार रहता है कि भिन्न रूप में भान भी नहीं होता क्योंकि भिन्न ही नहीं है। हाँ, भिन्न पने की कल्पना अवश्य अखरती है। इतना अभिन्न एक अद्वय है कि भिन्न पने की कल्पना भी सहन नहीं होती। क्योंकि आप आपसे कदापि भिन्न नहीं

रह सकता। इस हल्के परमात्मा को पाया नहीं जाता, खोजा नहीं जाता, देखा नहीं जाता। क्योंकि यही सबको पाता, खोजता व देखता है।

अपने-अपने हृदय में अपना आपही है और यही हल्का परमात्मा है। इसी में हलके से अब तक का सारा जगत व भविष्य का भी हल्का सा रखा है। न इसे यह (जगत) अखरे न जगत को यह (परमात्मा) दोनों का स्वरूप भिन्न होता तो अखरता। अतः सर्वत्र हल्का-हल्का परमात्मा ही है स्वयम्। जगदादि कुछ भी इसके सिवा अन्य नहीं है।

• •

७.

कोठारी बनें

यदि घर में किसी की शादी हो तो सबसे प्रमुख प्रश्न होता है कि इस समय कोठारी किसे बनाया जाय ? कोठारी के बिना तो किसी चीज की सुरक्षा ही न हो। आये गये अतिथियों का सामान सुरक्षित रहे, उनमें सबको यथायोग्य सेवा की चीजें मिलें, वापस भी हों, इसके लिये चतुर संरक्षक, अपना हितैषी व पूरा समय दे सकने वाला ही कोई चाहिये। कोठार में हर तरह की चीजें जो शादी में आवश्यक होती हैं सब वहाँ ही होती हैं और सभी को वह जाने पहचाने, समय पर दे व किसी के साथ संघर्ष न करता हुवा शादी कराने वाले की इज्जत का सदा ध्यान रखे। परन्तु रक्खें किसको ?

अब आप किसी अपने नितान्त प्रेमी विश्वासपात्र सबको पहचानने, पहचान कर लेने वाले, जिम्मेदारी को निभाने वाले चतुर व ईमानदार व्यक्ति को ही तथा जो आपके कहने को न टाले उसी को यह महान तपस्या का काम सौपेंगे। कोठारी को शादी का कोई आनन्द नहीं। सब अपने-अपने रंग रेलियों में रहते हैं परन्तु वह सबकी जरूरतों को पूरा करने में ही लगा रहता है।

यह कष्ट भले ही उसे हो परन्तु किसी के प्रेम में आबद्ध वह सच्चा सेवक- बिना पैसे का मजदूर, अपनत्व की भावनायें यह सब सह लेता है। जिस प्रकार सुहागिनें व कन्यायें शादी का आनन्द लेने में लगी रहती हैं परन्तु विधवा मातायें बेचारी सेवा करने में ही लगी रहती हैं। परन्तु इतना निश्चित है कि ये सम्पूर्ण इन सबका आनन्द उस कोठारी के बल पर ही होता है। वहाँ क्या नहीं है ? सब कुछ है। वह तो शादी की गुप्त नाक होती है नाक। और जहाँ नाक है वहीं प्राण है। नाक है तो सब कुछ है। कम मेहनत त्याग व जिम्मेदारी की ड्यूटी नहीं है यह ?

सब बताने का उद्देश्य केवल इतना ही कि शादी का सम्पूर्ण सामान उसी के हाथ होता है। किसके ? जो निष्काम ईमानदार हितैषी प्रेमी व सेवक होता है। विश्व विधाता भी अपनी जीव ईश्वर के मेल रूप शादी के लिये रचाया यह 'विश्व' उसी को सौंपने में खुश होता है जो निष्काम सेवक हो। ईमानदार हो, विश्वहितैषी हो, अपनी परवाह न कर सेवा की परवाह करता हो तथा जो खास उसी का प्रेमी हो जिसकी यह शादी है। शादी माने खुशी।

जो जहाज या नौका नीचे से फटी हो, जो असन्तुलित हो, जो बोझ के मारे डगमगाने लगे उसमें न कोई सामान रखेगा और यदि वह फूटी न भी हो परन्तु अधिक बोझ से डूबने की आशंका हो तो सामान निकालकर उतना ही रखा जायेगा, जितने में वह डगमगाये नहीं, उतरा जाय। नौका इसलिये कि वह सदैव सत्यता से, सामान की बिना इच्छा किये, इधर से उधर पहुँचाने में तथा हर व्यक्ति से अनासक्त रहकर केवल केवट के लिए ही ईमानदार रहती हुई इस सागर में उतराती रहती है। इसी प्रकार जो व्यक्ति नौका के समान प्रामाणिक (सत्य) हो तथा यहाँ के उस पर रखे किसी भी पदार्थ से अनासक्त रहकर इस भवसागर में उतराता हुआ उस विश्व के खेवैया के ही साथ मिला रहता है। उसके पास किस सामान की कमी है ? कौन उसे नहीं चाहता ? ऐसे ही व्यक्ति तो विश्व में डूबने वालों के लिये 'सहारा' होते हैं। भवसागर से पार लगाने वाले वे ही योग्य होते हैं। वे स्वयम् न डूब कर ही औरों को तारते रहते हैं। तरन तारन हैं वे।

अतः माल के लिये न तरसें, अपनी योग्यता को परखें। नाव बनें, कोठारी बनें।

• •

८.

वह सब कुछ और मैं किस हिम्मत पर

सभी दर्शन शास्त्रों व विद्वानों से पढ़ा व सुना कि 'वह' परमात्मा ही सर्व शक्तिमान् सर्वज्ञ एव सर्व व्यापक है। उसके समान कोई नहीं। उसने ही सब कुछ स्रजन किया है। वही सब में स्थित है।

तो फिर मैं क्या हूँ? मैं वह नहीं हूँ? यह क्यों नहीं कहने देता कोई? यदि नहीं तो इस तरह इतने 'बड़े' से विपरीत मैं उससे उल्टा किस हिम्मत पर हो गया हूँ? वह क्यों नहीं इस तरह हो सकता? जब सारी शक्ति, बुद्धि एवं देश उसके हाथ हैं जब वह कभी मेरे जैसा नहीं है तो फिर मैं उसके विपरीत विद्रोह कैसे कर सका हूँ? या तो वह इस जगह नहीं है—इतना कमजोर अवश्य है, इतना ज्ञान उसमें नहीं है या यदि मेरे जैसा भी वह है तो मुझे विपरीत वाला क्यों समझा गया?

इतने बड़े को न मानते हुये रहना भी—(सर्व शक्तिमान को न मानना भी) कोई कम शक्ति है? करके देखे कोई आस्तिक साम्प्रदायिक भला? कदापि नहीं कर सकता और ऐसा करने में 'वह' कहा जाने वाला विरोध भी तो नहीं कर सकता? चाहे मैं उससे विपरीत कहूँ, मानूँ या उससे बड़ा या उस जैसा या वही अपने को मानूँ, कहूँ, उसकी ओर से कोई विरोध नहीं होता। परन्तु यह विरोध इन मानने वालों की ओर से अवश्य होता है। अर्थात उसे नहीं मानते। मानते तो उसकी इच्छा के विरुद्ध मुझसे क्यों विरोध करते? विरोध करने पर भी मेरे निश्चय को तो वे मिटा नहीं सकते। असल में मेरा असली ब्रह्मतत्व ही उसको जिसे इन सबने भिन्न मान रखा है—भिन्न मानने को राजी नहीं और इसी कारण वह भी मैं ही हूँ इस गर्जन में मुझे कोई भय नहीं। ब्रह्म होने के नाते मैं ही कभी महान और कभी अल्प कभी व्यापक तो कभी

सीमित कभी ज्ञाता तो कभी अपने को व्यक्त करता हूँ। दोनों में से कोई भी मुझसे भिन्न नहीं है इसीसे व्यष्टि समष्टि भावों को धारण करता हुआ असंग भी हुआ करता हूँ यह मेरी लीला है। यह उल्टापने की तारीफ मेरी मुझमें ही है। सर्वज्ञ होते हुए सर्वज्ञता को भुलाना; सर्व शक्तिमान होता हुआ अल्प शक्तिमान भयभीत बनना और व्यापक होते हुये एक देश से अधिक न जाहिर करना यह अज्ञान नहीं बड़ी बुद्धिमानी है। यह लीला या कला मेरी मैं ही जानता हूँ। इसी कारण कभी उसे भी चैलेंज दे देता हूँ। अरे कोई दूसरा हो तब न ? मैं ही अपने को चैलेंज देता हूँ, मैं ही मुझमें मिलता हूँ, मैं ही मुझसे पृथकता की लीला कर करके अपने शेषांश से मिलने के लिये व्याकुल होकर मिलने का आनन्द लेता हूँ।

मूलत: मैं ही ब्रह्म हूँ यह जो नहीं समझते वे ही उसकी महिमा अपने में आरोपित होते देख डरते चिढ़ते व घृणा करते हैं। वह भी इन जैसा ही होता तो मुझे यह करने देना ?

अपने को छिपाना मुझे जैसे आता है वैसे ही प्रगट करना भी। परन्तु होता यह सब मेरा मुझमें ही, मुझको ही और मुझ जैसा ही, इसी मेरी हिम्मत पर ही यह अब तक सब कुछ होता आया है और अब जाना है। कभी भी मेरे लिये वह और उसके लिये मैं उल्टा हुवा ही नहीं। विरोध कैसा ?

• •

९.

गौ माता

गीता, गायत्री, गंगा, गौ और गुरु इन पाँचो में ही भारत अन्तर्निहित है। किसी एक को लो और समस्त भारत तुम्हें उसमें दृष्टिगोचर होगा। समस्त साहित्य में इन्हीं पाँचों का अस्तित्त्व है। और इन्हीं में हमारी गौ माता है।

गौ माता माने भारत। समाज, स्वास्थ्य, साहित्य, साधन, सुख एवं अध्यात्म उन्नति व ब्रह्म प्राप्ति तक गौ शब्द से जुड़े हैं। वेदों से लेकर वर्तमान तक सृष्टि कर्त्ता ब्रह्मा से चींटी तक गौ सबको प्यारी है। वह सभी की माँ है। उसमें दोष तो कुछ भी नहीं है गुण ही गुण हैं। साक्षात् भगवत अवतारों में उनका उद्देश्य भी गौ माता की सेवा व संरक्षण ही रहा है।

आज विदेशों की कूट चालों में प्रभावित भारत उसके महत्त्व व गवेषणाओं को, जिनको उपलब्धि से ऋषि महर्षि एवं देवताओं ने भी सृष्टि के समस्त तथ्यों को खोजा है—भुला चुका है और यही नहीं पुरानी कहकर उसके विपरीत भैंस जिसे यमराज का वाहन कहा है उसे ही श्रेयस्कर मान बैठा। टी० बी० गौ दूग्ध से जाती है जहाँ ऐसा कहा है वहाँ आज कहते हैं उसके दूध से ही टी० बी० होता है। भारतीय आयुर्वेद के रचयिताओं ने तो यहाँ तक कहा है कि समस्त रोगों की निवृत्ति, स्वास्थ्य, बल, बुद्धि सद्गुण, शांति, चरित्र एवं मोक्ष भी गौ के ही सहयोग से लभ्य है। महर्षि चरक तो कह उठे कि कलि में जब गौ का महत्त्व व उपयोगिता अज्ञमानव भूल बैठेगा तो उसके ह्रास से क्या होगा? गौवें न होंगी तो रोग बढ़ेंगे, स्वास्थ्य बिगड़ेगा, वर्षा न होगी, हरियाली न होगी, आंखों की ज्योति नष्ट होगी, कलही मानव रुग्न होंगे एवं अन्ततः भोगी होकर सर्वनाश को प्राप्त होंगे। आज ये शब्द अक्षर-अक्षर सत्य हुये जा रहे हैं।

असुर के राज्य में भोग एवं अर्थवाद के द्वारा मांस एवं सुरा के प्रचार में गौ माता के ह्रास द्वारा क्षय होता है सभी विधि से। आज यही तो है।

जहाँ विदेशी भारतीय उत्तमताओं को खोज-खोजकर अपने देशों में लाभ ले रहे हैं हम यह पढ़ रहे हैं कि हमारा पुरानापन सब खराब है। विदेशी गौ दूध पीते हैं मक्खन खाते हैं और हमें भी पावडर बना-बनाकर भेजते हैं जिसमें मक्खन नहीं होता। परन्तु हम हैं कि उन गौओं का मांस बेचते व खाते हैं।

विदेशी बड़े बुद्धि कुशल हैं। वे ऐसी चीजें माँगते हैं जो हमारी दसो चीजें खराब करें। उन्होंने मांस मांगा गौओं का। हमें दूध, घृत, मक्खन, खाद, चमड़ा अन्न मँगाना पड़ रहा है। उन्होंने मांगी शकर हम साल भर और सब खेती व अनाजों से हाथ धो बैठे और उनकी शकर के रखवाले गुलाम बन गये। उन्होंने कपास मांगा हम अनाज की उत्तम मिट्टी जहाँ गेहूँ होता था उसे खो बैठे। उन्होंने कच्चे खनिज मांगे हम उनके पक्के मालों के गुलाम बनाये गये। हम अपने को बुद्धिमान कहते हैं परन्तु प्रशंसा में मरे जाते हैं।

गौ जिसके द्वारा हर प्राणी माता का जाति सम्प्रदाय से ऊपर सभी को लाभ है महज विदेशियों को खुश करने के लिये साम्प्रदायिक विवाद की आड़ में हर मासूम बच्चे की खास खुराक से उसे वंचित करके औषधियों का गुलाम कर रहे हैं। आज के नेता असल में भारतीय हैं ही नहीं, उन्हें भारतीयता से चिढ़ है। स्वदेशियत का गांधी नारा धूल में मिल गया। उनकी सारी प्रतिज्ञायें तोड़कर इन्होंने गांधी की जो सच्ची हत्या की है वह भुलायी नहीं जा सकती।

भारत सदैव भारतीयता के द्वारा ही पनप सकता है। हर राष्ट्र अपनी संस्कृति में ही पलता बुद्धि पाता व सुखी रहता है। विदेशी भोग परायण प्रवृत्ति भारत की धर्म प्राण मिट्टी में अधिक दिन नहीं चल पायेगी।

गौ रक्षा करो गौ संवर्द्धन करो एवं सबको स्वाभाविक मातृभाव से गोपालन करवाओ। सतोगुण आयेगा स्वास्थ्य, मेल की भावना, शुद्धि व उन्नति होगी। सभी प्रकार की समृद्धि होगी। एक गौ के ही नाम पर अब हम सभी एक हो सकते हैं। और तो सभी धर्म हिंदु साम्प्रदायिक वृत्तियों में छिन्न-भिन्न हो चुके हैं। न सन्त अपना न धर्मग्रन्थ। सभी में सम्प्रदायिकता की छाप देकर सर्वमान्य नहीं रह गये। परन्तु एक गौ अभी भी शेष है जो हम सबको एक कर सकती है उसी को पूजा बढ़ाओ अर्थात सेवा। उसी की प्रतिमायें सर्वथा प्रस्थापित करो। भगवान अपनी प्यारी गौ की पूजा से फिर यहाँ आयेंगे।

एक पौराणिक कहानी के अनुसार ब्रह्मा ने प्रथम गौ जब उत्पन्न की तो सभी देवऋषियों मानवों असुरों व प्राणियों को पसन्द आई। सभी उसमें बस गये। अर्थात गौ में ही हम सब सदा एक होकर रह सकते हैं।

दूसरी कहानी हैं लक्ष्मी का गौ के गोबर में निवास। अर्थात लक्ष्मी गोबर की खाद द्वारा उत्पन्न अन्न के द्वारा विपुल प्राप्त होती है। कितनी आर्थिक उत्तम दृष्टि की गवेषणा है। हम दूध आदि के ही लोभ से नहीं (गोबर तो नित्य होता है) इसी के द्वारा हमारी दिनचर्या, स्वास्थ्य, भोजन, खाद, व वस्त्र अन्न सब प्राप्त करते हैं। तो केवल दूध ही का लोभ न करें।

तीसरी कहानी है ब्रह्मा ने इन्हीं कामधेनुओं को इन्द्र को दिया। इन्द्र से अधिक होने पर देवताओं को, देवताओं से ऋषियों को व ऋषियों से मानवी राजाओं को प्राप्त हुईं। और राजाओं से मानवों को। आज यदि मानव उनकी रक्षा करने में असमर्थ है तो राजा सम्हालें। करोड़ों की जायदादें कोठियों के बनाने में विद्यालयों व अस्पतालों में खर्च करने के वजाय क्यों न गौ संवर्द्धन रक्षण में खर्च करके जनता व गौ की सेवा की जाय? और यदि ऋषि लोग भी असमर्थ हैं तो अब देवता अपनी गौओं को सम्हालें। वे नहीं तो ब्रह्मा और ब्रह्मा भगवान को प्रेरणा देकर गौ रक्षा करें एवं गौ धानियों का संघार करें। गौ माता को हमसे बिल्कुल उठा लें।

मैं चाहता हूँ कि भगवान स्वयम् इधर दृष्टि डालें इसके पहले हम अपनी विभूति को क्षमा मांगते हुये उठालें नहीं तो भगवान के आने पर तो कहीं दंड के भागी होकर हम भी दंडित न हो जायें? वही पार्टी, वही शासक, वही सन्त, वही मानव है जो मूक निर्दोष, निहत्थे हितकारी प्राणियों की रक्षा करें तथा उनसे अपना लाभ लें।

'भगवान सबको सदबुद्धि दें यही प्रार्थना है।'

कृतघ्नता की हद तो यह है कि आज का शासक बैलों की जोड़ी के प्रतीक द्वारा जनमनों को आकर्षित कर राज्य प्राप्त करता है परन्तु सच्ची गौ माता व उसके पुत्रों बैलों को मृत्यु के घाट उतारता जा रहा है। अतः जनता स्वयम् इनसे आशा न रखते हुये अपनी विभूती गोमाता को उठाये, उसकी भक्ति करे यही उत्तम है।

● ●

१०.

यज्ञ

यज्ञ स्वयम् भगवान ही है। भगवान ने कहा है। इसलिये यज्ञ में क्या नहीं है यही नहीं कहा जा सकता। है तो कब कुछ है। यज्ञ एक सम्मेलन है। बड़ी खूबी से भारतीय संस्कृति को अखण्ड तेजस्वी बनाने का अमोघ साधन यज्ञ है। भारतीय साहित्य के महान अन्वेषकों ने ब्रह्मा के हृदय में निगूढ़तम यही वह रहस्य जाना था जिसमें से सृष्टि का उत्पादन रक्षण एवं विनाश की समस्त शक्तियाँ जानी गईं।

यदि भारत को कहीं देखना हो तो (विश्व कहीं देखना हो तो) यज्ञ में देख लें।

समस्त भारतीय वेदशास्त्र, स्मृति-पुराण, देवता शक्तियाँ, आचार-विचार आपको एक ही स्थान में अर्थात् यज्ञ में दिखाई देंगे।

मंत्रविज्ञान, नाद विज्ञान, पदार्थ विज्ञान, ज्योतिष विज्ञान, ज्यामिति विज्ञान, गणित विज्ञान, शून्य विज्ञान, योगविज्ञान, संकल्प विज्ञान, भाव विज्ञान, सामाजिक संगठन विज्ञान, स्वास्थ्य विज्ञान, प्रेम विज्ञान, अध्यात्म-विज्ञान, दैवविज्ञान, अग्निविज्ञान, वायु विज्ञान जल व पृथ्वी विज्ञान तथा ब्रह्मविज्ञान आदि समस्त प्राणियों के विभिन्न स्वभावों का एक ही परमार्थ भावना में जो संग्रंथन एवं संयोजन है वही विज्ञान में आपको मिल सकता है।

एक व्यक्ति की या समष्टि की कामनाओं की पूर्ति का साधक, आपस में मिलन मिलाकर, वर्तमान की परिस्थिति का विचारक एवं तन्निरोधार्थ या निवारणार्थ सामूहिक भावनाओं के एकीकरण के साथ विश्वविधाता को जगाकर उससे कृपा की वर्षा करवा लेना यही एक इसका उद्देश्य है। सन्तों का सम्मेलन होकर भारत या विश्व भर की सामयिक परिस्थिति का सबको

दर्शन के साथ समाधान भी इसी बहाने होता है। समस्त भारतीय खोजों का समावेश एक इसी यज्ञ विज्ञान में होता हुआ दिखाई देने के कारण ही ऋषि महर्षियों ने यदा कदा बिगड़ी दारुण परिस्थितियों का इस द्वारा निवारण करके मानवों को राहत देकर सम्भला दिया है।

विशिष्ट प्रकार के ज्यामिति के सिद्धान्तानुसार अचूक यज्ञ वेदियों का सम्बन्ध ततस् आकारों में निहित ज्योतिशानक्षत्रों की रचनाओं में उन्हें बाँध करके, अपनी विशिष्ट मंत्राक्षरों में जिन्हें ब्रह्मा के दिये वेदमन्त्रों तथा ऋषियों को तपस्या से प्राप्त शास्त्र व स्मृतियों के नियमानुसार, विशिष्ट प्रकार के पात्रों के संयोग से एवं विशिष्ट प्रकार की जड़ी-बूटियों के अवधान के द्वारा अपनी भावना की उत्कटता से जिसमें वर्तमान की परिस्थिति की सुधार की संवेदना, कुछ विशिष्ट गिनती की आहुतियों द्वारा एवं एकाग्र एवं संयमित इन्द्रियों व मन बुद्धि के द्वारा विशिष्ट प्रकार के नादों से दृढ़ संकल्प एवं विश्वास से समष्टि जनमानस में 'भाव' को जागृत करके समस्त समाज के चारो वर्ण आश्रम के सहयोग से संगठित रूप में, शुद्ध अन्न एवं गौ घृतादि सुगंधित द्रव्यों द्वारा स्वास्थ्य के लिये विशुद्धि वायु निर्माण करके विशुद्ध भगवत प्रेम द्वारा एवं तपः पूत विद्वान ऋषि पुरोहितों द्वारा जो ब्रह्मज्ञ भी होते हैं, विशिष्ट प्रकार के दैव ज्ञानसे जाग्रत करके अग्नि, वायु, जल, पृथ्वी आदि को स्वानुकूल करके सर्व सामार्थ्य एवं तद्वारा अनुकूल परिस्थितियों का निर्माण, आचार्य महानुभाव करते आये हैं। प्रति आहुति में मन्त्र एवं भावना व अनुशासनात्मक एकता के द्वारा उठी एक धूम सहित तेजस्वी अखण्ड शिखा जो अन्तरिक्ष चरीकर उस धूम को 'लेसर किरण' की भाँति शीघ्रतम काल में पहुँचाती है, अपने अनुकूल पदार्थ की वर्षा करने उसी प्रकार के परमाणु एवं शक्तियों से समिश्रित होती है। और धूम तो अन्तरिक्ष में रहकर पार्जन्य (पानी ही बरसानेवाला स्वाधीन बादल) तो इधर स्थूल लाभ देगा ही (अनुकूल अन्न, वीर्य एवं प्रजा)। परन्तु वह तेजस्वी शिखा का तेज और भी आगे उस नक्षत्र तक पहुँच जाता है जहाँ से अनुकूल किरणों एवं तद्वारा सुरक्षा होती है। और उन नक्षत्रों में रहनेवाले इच्छित देवगण जिन्हें मन्त्र एवं भावना के साथ संबद्ध होकर निमन्त्रण पहुँचाने वह ज्योति शिखा की शक्ति पहुँची, उसने देवताओं को प्रेरितकर यहाँ की परिस्थिति पर ध्यान

देने को बाध्य किया। क्योंकि ब्रह्मा की निर्मित सृष्टि में कार्य बँटे होने से यथायोग्य को ही समय पर पुकारा जाना आवश्यक है। और साथ ही वेद मन्त्रों का (सृष्टि संचालन कानून को लेकर) ब्रह्मा (परमपिता) को स्मरण कराया गया कि आपकी सृष्टि में रहनेवाले हम पर आपके ही सृष्टि के संचालकों की सुदृष्टि होनी चाहिये। क्योंकि वर्तमान में यहाँ परिस्थिति एवं उसे निर्माण करनेवाले आपके ही सृष्टि के कोई हैं जिन्हें आप देखें। आपके ही विधानानुसार यह पुरुषार्थ किया गया है, इसमें आपके विधि को पालन करनेवाले हमको आपके अभय हस्त से अभयदान देकर कृतार्थ करें।

एवं आत्मविज्ञान के ज्ञाता इसी में अपने आत्मा को ब्रह्मरूप स्मरण कर सृष्टि आधार अपने आपके ही इन ब्रह्मादि को फिर से झकझोर कर मन्त्रणा या इशारा देते हैं, तथा मानव व प्राणिमात्र में स्थित सूर्य रूप में सर्व का आत्मा अपने आपका स्मरण कर शान्ति, संतोष, आत्मविश्वास देकर कार्य पूर्ण होने का विश्वासी भाव जागृत कर राहत देते हैं।

रही सही बातें सतसंग सम्मेलन द्वारा महानुभाव अनायास ही इकट्ठे हुए अभिलाषियों को अनेक मंत्रणाओं से सन्तृप्त करते हैं। और ये ही समाज से छटे कुछ प्रतिनिधि यहां से जाजाकर तत्तत् प्रेरणाओं से शेष समाज को धैर्य विश्वास एवं भगवत् कृपा की अनुभूति जगाकर शीघ्र ही जनता जनार्दन की इच्छानुकूल परिस्थिति (निर्माण हुई) देखने लायक सबको बना देते हैं।

इस प्रकार यज्ञ सम्मेलन एक अचूक रहस्य है जिसके ही कारण भारत अब तक संगठित रहा है। विदेशियों के बहकावे में आकर स्वधर्म स्वशास्त्रों के विज्ञान से शून्य आजका अर्द्ध मानव इसका तिरस्कार कर करके विखंडित दुर्बल एवं हताश होता जा रहा है।

कोई मूर्खता नहीं जो इसमें विशुद्ध घृत, तिल, चावल आदि फँके जायें। वास्तव में फूँके नहीं अनन्त शक्ति प्राप्त करने को उन्हें संजीवित करते हैं। जो भी वहाँ जलता है उससे जनता को एक दिन का भी भोजन न होगा। परन्तु उसके सही प्रयोग से उठे धूम के बादलों से वे ही तत्त्व बरसकर करोड़ों के पेट भर सकते हैं। वैद्य मूर्ख नहीं जो स्वर्ण आदि धातुओं, रत्नों को व औषधियों को सैकड़ों बार भस्म करता है। वह जानता है कि धातु रत्न रूप में रहते इनसे जीवन तो क्या मृत्यु भले प्राप्त हो—परन्तु फूँककर

सहस्त्र पुटी बनाकर मैं सैकड़ों मरते प्राणियों को भी जिला सकूँगा—वही उन्हें विधि विधान से जलाता हैं। उसी प्रकार यज्ञ में जलाते नहीं विधि विधान से उनके द्वारा लाखों करोड़ों के कल्याण को देखा जा सकता है।

विद्युत शक्ति से सन्देश आकाश में सर्वत्र भेजे जाते हैं तो यज्ञ द्वारा प्रगट विद्युत के सहारे हम भी सर्वत्र संदेश भेजते हैं। यदि आज के मसाले हमारे नादों को पकड़कर रखते हैं यह ज्ञान वैज्ञानिकों को अब हुआ तो हमें करोड़ों वर्ष पूर्व ज्ञान था कि हर पदार्थ एक विशिष्ट विधि से हमारे इशारों को सुनता समझता सग्रंथन करता एवं जहाँ तहाँ पहुँचाता है। यदि आज यंत्र लोक लोकान्तरों में बिन तारों के संचालन से यत्र-तत्र जा सकते हैं तो उनमें भी एक विधि है—संकल्प का संयोजन है तथा विश्वास है जो उन-उन तत्त्वों ने भी पकड़े समझे व स्वानुकूल हुए। तो इस पृथ्वी के ही नहीं, समस्त लोक लोकान्तरों में भी यह आपका मन आपकी भावना के अनुसार सबको हिला डुला रोक सकता है। सबमें विधि की आवश्यकता है। यही सब समझनेवालों ने यज्ञ द्वारा बा-बोकर दिखाया जो असम्भव लग सकता है। परीक्षित का सर्प यज्ञ, बलि का विष्णु को नीचे खींचना आदि सृष्टि विधाता को भी स्वानुकूल किया है तो इन्हीं वेद यज्ञ वेत्ता ऋषि महर्षियों ने।

अतः यज्ञ एक भगवान का स्वरूप है। उसमें सब है। परन्तु है विश्वास प्रेम एवं विधि के ज्ञाताओं के द्वारा ही। भारतीय धर्मशास्त्रों में कोई भी गप्प नहीं है। वे सब तथ्य हैं धीरे-धीरे आज का मानव समझेगा। वैज्ञानिक तो आज का बच्चा है। पट्टी बांधकर चलनेवाला लक्ष्य से भटकता है। श्रद्धा व विधान बिना किया हुआ आज का विज्ञान हमें विश्वसंहार को ओर ले जा रहा है। और वह भी हमारे ही अथर्ववेद के द्वारा यह उन्हें मिल पाया है चाहे वे बतायें या नहीं।

विषय बहुत बड़ा है जितना लिखें थोड़ा ही। हर विषय पर लिखा जाय तो एक स्वतंत्र ग्रन्थ लगेगा। हम अन्त में इतना ही कहेंगे कि भारतीय युवक इन भारतीय ग्रन्थों को भी खोज करने की इच्छा से आगे आयें परन्तु इन्हें पहले अशुद्ध है, बेकार हैं यह मानकर नहीं—वरन् श्रद्धा से इन ज्ञान कोषों को खोजें तो आज भी भारत विश्व गुरु बन सकता है?

बोलो यज्ञ भगवान् की जय। भारत माता की जय। ● ●

११.

भगवान का भी पक्षपात

विश्व में आज तक के इस हमारी धरती के इतिहास में यदि सर्वश्रेष्ठ अवतार जिनकी सानी के अब तक अन्यत्र कोई नही हुये हैं वे केवल हमारी इस मातृ पितृ पुण्य ऋषि भूमि-भारत में ही अवतीर्ण हुये हैं। मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान श्री रामचन्द्र, नन्दनन्दन पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान श्रीकृष्ण एवं देवाधि-देव परम विरक्त भोलेनाथ श्री शंकर भगवान। इन तीनों को जिन्हें भारत ने ही समस्त विश्व को भेंट किया है, अनुपमेय हैं। विश्व के इतिहास ने इन्हें लाँघकर जाने की हिम्मत नहीं की है: और भी जब इस युग में अवतार होगा वह भी यहीं होगा। अन्य भी जो सन्त ऋषि, तपस्वी, योगी चक्रवर्ति धर्मज्ञ तथा सम्राटों के भी जो दिव्य अवतार हुये हैं वे भी भारतमाता की ही खदान के रत्न हैं।

धरती के अन्य राष्ट्रों में इनके प्रति आदर होते हुये भी एक किरकिरी सी रहती है कि हमारे देश में ऐसे या इनसे बढ़कर क्यों नहीं हो पाते? इसी कारण वे कुछ चिढ़ते हैं। अपनी हीनता को छुपाने के लिये हमारी संस्कृति की निंदा व अपनी श्रेष्ठता के भाव हमारे भावों में भरने की भरसक चेष्टा में रहते हैं। चाहे जो भरें वे संतुष्ट नहीं होते क्योंकि जो भी वे अच्छा समझते हैं, उनका हृदय उन्हें कोसते हुये कहता है कि यह सब भारत का ही है, तुम चोर हो। भारत के आगे अब भी तुम नहीं जा सकते। चोरी का माल ला लाकर चोर अपने बच्चों को दिखाये भले परन्तु उन्हें पहनाकर बाहर जाने देने को डरता ही है।

कभी-कभी यह भी मन में आये बिना नहीं रहता कि यदि भगवान भी इस भारत के समान धरती के हर क्षेत्र से अवतार ले लेकर आते तो किसी एक देश जैसे भारत को यह अभिमान भी एवं किसी अन्यों को हीनता या द्वेष का भी भाव न हो पाता। जब भगवान सभी के उतने ही हैं तो यही

बात कि कहीं से उत्पन्न होकर बतला सकते थे। चारों युगावतार चार कोने से विश्व में अवतीर्ण होते तो चारो दिशाओं को गौरव होकर भगवत नाम के द्वारा आज के इस फूटे-फूटे हृदयों में एकता हो जाती। सन्त तो सर्वत्र हुये हैं परन्तु युगावतार भारत में ही क्यों होते हैं? जैसे राम, कृष्ण, शिव ने आपस के लिये एकता के वचन कहे हैं ये ही वचन दुनिया के चारो कोनों से उत्पन्न हो होकर कहते तो साकार भगवान के प्रतिपादक ये व्यास बाल्मीकि केवल भारत को महिमा से अभिमानी न कराकर सभी धरती की एकता सिद्ध करते। ये ही तीर्थ जो भारत में होते सर्वत्र होते एवं सब जगह का मानव सर्वत्र भगवान के नाम पर तीर्थ यात्रा अबाध रीति से करता हुआ एकता का अनुभव करता। न ये मजहब के नाम पर झगड़े होते न छोटे बड़े का भाव होता न रागद्वेष। क्योंकि सब ओर से अवतारों के रूप में एक भगवान सर्व के एकत्व की गर्जना करते हुये सबको 'हिन्दू' 'आर्य' कहलाते।

यह पक्षपात न भगवान में होता न जगत में आता। देवताओं को भी कुढ़ाया। यह कहलवाया कि भारत देश अति पुण्यवान है। जब भी वे आयेंगे तो यही आयेंगे तरसते रहते हैं।

यह भगवान का पक्षपात क्यों? भगवान के मन में भी इतना पक्षपात रहे तो फिर जगत में किसी के हृदय में पक्षपात न आवे यह कैसे हो सकता है? जो भी आया है वहीं से आया है। भगवान को चाहिये था कि जो भी अच्छाई होती सबको बाँटते, आप भी सर्वत्र रहते सर्वत्र से अवतार लेते और सब जगह यही कहते कि मैं ही भारत में हूँ और मैं ही यहाँ वहाँ। परन्तु ऐसा वे न कर सके और उसी का फल आजका मानव पा रहा है। यदि कहो कि अज्ञान से लोग कहते हैं? तो क्यों नहीं अब तक चारो तरफ अवतार धारण करके समझाये या समझाते कि भाई! सब मेरे ही हैं। मैं ही हिन्दू मुस्लिम, ईसाई, बुद्ध, साम्यवादी आदि सर्वरूप में हूँ। परन्तु उसे खुद लड़ाना है न? नहीं तो पहली भूल ही न करते। अवतार एक ही देश में वह भी एक ही प्रान्त (उ० प्र०) में न लेते? यहाँ भी लड़ाया वहाँ भी लड़ाया। रावण ले जा रहा था तो न गये। न जाने भारत से क्या आसक्ति है? इन्हें ही आसक्ति नहीं निकालते बनता, मेरा तेरा इन्हें भी है ही तो जगत के साधारण प्राणियों में रहने में क्या आश्चर्य है।

तो यह पक्षपात क्यों ? कहते हैं जिन भक्तों ने ऋषियों ने तपस्वियों ने यतियों ने अथक तप के द्वारा हृदय की असीम श्रद्धा द्वारा उन्हें यहाँ अवतार धारण करने को वाध्य किया है वे सब यहीं रहे थे। परन्तु मैं पूछता हूँ उन्हें भी यहीं रखने को क्या आवश्यकता थी ? उन्हें भी सर्वत्र रखने एवं आप भी सब जगह से अवतार लेते तो क्या बिगड़ता ? इस धरती के कण-कण में उन तपस्वियों का आकर्षण है यह भले ही माना परन्तु मेरा तो यही प्रश्न है कि उन्हें यदि भेद मिटाना ही होता तो वे यह सब वदल सकते थे।

कोई यह भी कहते हैं कि भाई भगवान में कोई पक्षपात नहीं है भक्त लोग अपनी-अपनी श्रद्धा भावना से ही उन्हें वाध्य करते हैं—अपनी भावना का फल वे देखते हैं भगवान तो यहां भी हैं और वहां भी। किसने मना किया है उन राष्ट्रों को कि उन्हें न बुलाओ। परन्तु भोग प्रधान राष्ट्रों ने कभी योग का, भक्ति का स्वाद पाया है ? भोगी देशों में योग और मोक्ष की परवाह नहीं होती। और जहाँ परवाह नहीं वहाँ भगवान का क्या पक्ष-पात है ? पर मैं पूछता हूँ अवतार धारण करके 'मैं सब कुछ कर सकता हूँ' ऐसा कहने वाले भगवान क्या इन देशों में यह नहीं कर सकते थे ? तभी तो मैं कहता हूँ कि जब भगवान के मन में ही पक्षपात हो तो यहाँ वहाँ सर्वत्र अज्ञान पक्षपात एवं छोटे बड़े भावों के द्वारा ईर्ष्या द्वेष क्यों न होगी ?

सामान्य वाला भगवान तो सर्वत्र रहता है परन्तु विशेष के लिये ही यह मेरा प्रश्न है। भारत की महिमा अपनी जगह है। भगवान की अपनी जगह परन्तु यह पक्षपात किस जगह का है ?

भगवान भी सोचते होंगे कि इसी भारत में, एक प्रान्त में तीनों अवतार धारण कर सारे भारत व विश्व में घूम कर भी मैं सबका न माना गया : यहीं भारत में सब मेरे तीनों रूपों में परम श्रद्धा नहीं करते हैं तो चाहे सारे राष्ट्रों में भी अवतार धारण करता तो भी यही होता।

मानव में इतनी योग्यता नहीं है। जब तक श्रद्धा एवं विश्वास के साथ वह निज आत्मरूप को पहचानकर मुझे नहीं देखता तब तक सब में मिलन असंभव है। तो क्यों नहीं कराता ?

क्यों भक्तों की जरूरत है ? क्या चापलूसी पसन्द है ? तो यही सर्वत्र फैली है जिसे क्यों खराब माना जाय ?

१२.

मन्दिर—व्यष्टि भी विश्व भी

भगवान सर्वत्र है। सब मन्दिरों में भगवान् है। हर मन्दिर में सैकड़ों या थोड़े बहुत की भीड़ रहती है भगवत् दर्शन करने को। बड़ी सुन्दर झाँकियाँ रहती हैं सर्वत्र! बलिहारी है प्रभू की कैसे-कैसे सजे हैं हर मन्दिर में!

फिर भी हर मन्दिर में प्रभू की झाँकियाँ होते हुए भी हर भक्त उन्हें यही मनाते हुये दिखाई देता है कि 'प्रभू कब मिलोगे' तब बड़ा आश्चर्य होता है। हर मन्दिर में भगवान् एवं हर भगवान के ऊपर एक मन्दिर जिसे वह आप ही ढोता है। क्या और किसी के द्वारा वहाँ का खर्च चलता है। वही अपने मन्दिर ढोता है।

परन्तु वह मन्दिरों का भगवान् अपने मन्दिर के लिये कभी रोता बिलखता चिन्ता नहीं करता। चाहे मन्दिर अच्छे रहें या बुरे गिरे या नये बने रहें वह सदा मस्त रहता है अपने में। कभी किसी भगवान् को किसी मस्त दर्शनार्थी ने मन्दिर में रोते नहीं देखा जब देखा हँसते ही देखा।

परन्तु जब भी भक्तों की भावना के सत्याग्रह से मन्दिरवाले भगवान् अपने उस विग्रह को वहाँ रखते हुए भी नये किसी चेतनरूप में आकर यह कहते सुनते हैं कि मैं सब में हूँ। सब शरीर मेरे मन्दिर हैं। सब हृदय मेरे मन्दिर हैं। और सब हृदयों में रहनेवाला, पुजारी रूप से व पूज्य में ही हूँ। तो ऐसा लगता है कि फिर इन बाह्य मन्दिरों में ये मन्दिर ही मन्दिर क्यों पहुँच रहे हैं? यह कैसा भगवान् जो अपने चलते-फिरते रूपों में मन्दिर ढोये-ढोये फिरता है। खुलकर सामने क्यों नहीं आता? क्यों आवे? जब उन मन्दिरोंवाला उसी में बैठा रहता है तो यह भी क्यों स्पष्ट रहे? जिधर

उधर मन्दिरों की इस भरमार में, मन्दिर-मन्दिर की लड़ाई में, टूट फूट में, भगवान ही भगवान के इन मन्दिरों में भक्त दर्शनेच्छा से जाकर जब आर्तभाव से यह कहता है कि मेरे प्रभू कब तक छुपे रहोगे ? कब दर्शन दोगे ? तो जाने कैसा लगता है ? क्यों यह छुपता है ? क्या राज़ है इसमें ? कोई खेल तो नहीं यह ? शायद इसी प्रकार यह उसे और वह इसे प्रभु देखकर मस्त होते हों ? शायद इस चलने-फिरने मन्दिरधारी को देखकर इसी के द्वारा उनकी उत्पत्ति देखकर वह भगवान् चुप रहता हो और यह इसीलिये वहाँ जाता हो कि कभी तो यह मन्दिरवाला यह कह उठे कि तुम्हीं तो भगवान् हो।

देखा आपने कि भगवान् अपने मन्दिर आपही ढो रहा है। ढोये चाहे जितने ढोये परन्तु रोये नहीं तभी मजा है। विराट विश्व भी उसी का मन्दिर है एवं यह व्यष्टि देह भी परन्तु अब अपने को छुपाये नहीं। पर कौन समझाये इसे ?

• •

१३.

दोनों लीचड़

ग्राप समझते हैं लीचड़ किसे कहते हैं ? लीचड़ वह जो जहाँ चिपट जाय वहाँ से हटाये न हटे। चाहे कितना ही दुतकारो, परवाह न करो या कुछ भी न खिलाम्रो पिलाम्रो, चाहे जो हो, वह वहाँ से नहीं जाता।

बुरा मानो चाहे भला परन्तु इस परमात्मा ने मुझे इतना तंग किया है कि सारा संसार छान मारा। लाखों-लाखों वर्ष हो गये ग्रनेकों कष्ट झेले, ग्रनेकों साधनायें की इसके लिये एक प्रकार का लोचड़ बनने की भी ठानी, परन्तु मिले तब तो चिपटें। कई बार गालियाँ दीं, ग्रारोप लगाय, बुरा-कहा, मिन्नतें की, परन्तु यह न मिला तो न मिला। एक बार किसी साधु कहानेवाले से मिला। खूब गिड़गिड़ाया रोया कि मुझे उसे मिला दें। वह सन्त भी बड़ा विचित्र उसने मेरी मूंड़ी पकड़ी ग्रौर मरोड़ दी पीछे। मैं चिल्लाया ग्रौर गाली देने ही वाला था कि क्या देखता हूँ जिसे देखना, मिलना चाहता था वह तो नहीं था। ग्रब तो मुक्ति हो गई, उसके गुण गाऊँ या कि उसे देखूँ, मिलूँ, लिपटूँ ? या कि शिकायतों की लिस्ट सुनाऊँ ? ज्यों ही उस ग्रोर देखा–वह मुस्करा रह था। बोला मैं तो यहीं सदा यहीं तेरे साथ रहा। तू ही जाने क्यों बाहर भटकता रहा। मैंने कहा "भला देवता ! पुकारा क्यों नहीं ? रोक लेता, थाम लेता हाथ ?" वह बोला, मैं तो तुझे देख-देख कर इतना मस्त हो गया था कि सुध ही न रही कि तू रो रहा था कि मैं।" मैंने कहा "तो ग्रभी ही क्यों बोला गया ?" वह बोला– "ग्रब तो ग्रामने-सामने हो गये न ? मैं तो तेरे से ऐसे चिपटा हूँ जैसे लीचड़। जब से तू मेरा लीचड़ बना मैं भी तुझमें चिमट गया। मुझे कोई कितना ही ठुकराये मैं हरेक से इतना ग्रासक्त हूँ कि छोड़ नहीं सकता।

देखा भी यही है कि हमलोग जगत के किसी पदार्थ को, उसकी ग्रासक्ति को भले छोड़ दें, ईश्वर एक-एक कण से इतना ग्रासक्त है कि किसी को ग्राज तक छोड़कर रह ही नहीं सकता। जरा सा उसके किसी भी कण पर ग्रपनत्व जोड़ कर तो देखो. जब तक छोड़ न दो हजारों कष्ट देदेगा। जो कहीं से न हटे, ग्राग से पानी, हवा, पहाड़, पत्थर से न हटे वहीं चिपटा रहे वह बड़ा लीचड़ है लीचड़। ऐसे लीचड़ को लीचड़ ही जान-समझ देख पाते हैं। ग्रौर दोनों लीचड़ ही ठहरे तो किसका भेद करे? किसको बुरा कहें?

• •

१४.

ईश्वर-प्रकृति

'कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति'', पुत्र कुपुत्र हो सकता है, परन्तु माता कभी कुमाता नहीं होती। परन्तु हमने तो एक आश्चर्य देखा कि पुत्र तो कुपुत्र नहीं है पिता ही कुपिता हो जाता है। दिन-रात पिता की याद में तड़पता, उसके लिये सर्व स्वार्पण करता हुआ तन बदन को सुखानेवाले श्रद्धावान् सच्चरित्र को भी पिता दुःख देता है। यह बात नहीं कि पिता मर गया है तब नहीं आता वरन् सदैव सर्वत्र रहता है फिर भी नहीं मिलता। सुनता है, समझता है परन्तु दुःखाता रहता है और वह भी अपने प्यारे इकलौते विनयी प्रेमी बेटे को। जिस पर प्रेमी अपना सब कुछ न्यौछावर कर दे और फिर भी उसे दया न आवे तो उसे क्या कहेंगे? पिता या कुपिता? जो अत्यन्त दयालू हो, कोमल हृदयी हो, सबका सदैव सबका अन्तर्यामी हो और वह भी अपने बच्चे को इतना तड़पावे, सतायें और सताने में ही—कसाई के समान प्रसन्न रहे क्या वह पिता है? कदापि नहीं। एक दो दिन से नहीं, लाखों-लाखों वर्षों से भी नहीं, जन्मों से जो पिता से बिछुड़ा है, पहचानता ही नहीं और हर बार मां से पूछता है, वह कहाँ है? और माँ बेचारी खुद आंसू बहाते हुए धीरज देती रहती हुई पालती रहती है परन्तु वह नहीं आता।

इस तरह तो माँ ने उस हालत में भी जब कोई पुत्र का नहीं था (क्योंकि पिता तो छोड़ कर चला गया है) अकेले दुःख के समय भी हजारों कष्टों में हजारों कष्ट झेलकर भी अपने हृदय से लगाते हुये सान्त्वना दी—सम्हाला है। उस विरहावस्था में जब मां से भी लड़ाई कर करके उसे ठुकराते रहे। उस समय भी—इतने वैराग्य में भी—वह न आया परन्तु माँ ने उस समय भी

सम्हाला (शरीर के ऊपर कम्बल के समान लिपटी रही) कभी धोखे में स्वप्न में या मन में परछांई से मिलाते ही पिता के लिये तड़पता पुत्र इसी मां ने सम्हाला था। परन्तु जिसका था उसने तो सताया ही। और इतने पर भी जब वह अब मिला तो एक बार तो दिखा फिर भी एकदम अन्तर में घुसकर बैठ गया (एक रूप हो गया)। इस स्थिति में भी मां ने सम्हाला। और अब सदा के लिये मिलते ही मां को हमने छोड़कर उससे लिपट गये तो भी जिसका था उसे सौंपने में भी मां को कष्ट या हिरस नहीं हुई। ऐसी सन्माता (सत्पत्नि) को हम कुमाता कैसे कहें ? और अब तो पिता मिल ही गया है उसे भी कुपिता कहें तो कैसे ? मिलने के पूर्व तड़फन में कुछ न कुछ निकल ही जाता है। परन्तु इतना अवश्य कि मां हमारी (प्रकृति) कदापि कुमाता नहीं है। उसने हमें कभी नहीं छोड़ा चाहे पिता के न मिलने पर या मिलने पर। चाहे हमने उसे छोड़ दिया हो पिता से मिलन होने पर। जिस मां को छोड़ देने पर भी दुःख न हो वरन् प्रसन्नता हो उस परम ममतामयी मां को बार-बार वन्दना है। अन्तिम वन्दना है।

●

१५.

जप एक रहस्य

बार-बार किसी एक विशिष्ट अक्षरों से युक्त शब्द रचना की तरंगों से इच्छित तत्त्व की उपलब्धि कराना ही जप का तात्पर्य है। जप एक रहस्य है। भारतीय ऋषियों ने सृष्टि विज्ञानों को किस तरह इन मंत्रों में संक्षेप से रख दिया है यह देखकर आश्चर्य होता है।

वाचिक, उपांशु व मानसिक तीन प्रकार का जप होता है। जोर-जोर से उच्चारण करने को 'वाचिक' अपने को सुनाई दे उतने हल्के से जप 'उपांशु' व केवल मन से ही अन्तर-अन्तर जप मानसिक जप होता है।

जप में मालायें, स्वर लहरियाँ, विशिष्ट अक्षर रचना अंगुलियों का विधान नक्षत्रों का सम्बन्ध, दिशायें, मानसिक एकाग्रता, आत्मविश्वास, ब्रह्मा के पूर्व रचित बिधान का स्मरण कराना तथा स्वयम् परमात्मा का निवास होता है।

मालाओं में भी उत्तम मध्यम कनिष्ठ रूप से होती हैं। रुद्राक्ष या कुश की गाठों के मणियों की सर्वश्रेष्ठ हैं। कोई-कोई तुलसी को भी लेते हैं।

दिशायें भी इच्छित कार्यानुसार निश्चित होती हैं तथा समय भी। पूर्व-वशीकरण, पश्चिम विभूति, उत्तर शांति व दक्षिण अभिचार के लिये। इसी प्रकार सुबह शांति दोपहर मध्य एवं सायम् घोर जप किये जाते हैं। अंगुलियों में भी अँगूठा मोक्षदायक, तर्जनी शत्रु विनाशक, मध्यमा शांतिकारक तथा अनामिका उत्तम होती है। मानसिक एकाग्रता सभी में अत्यावश्यक है। चाहे सतोगुणी रजोगुणी व तमोगुणी कार्य हो। सतोगुणी को उत्तम कार्य रजोगुणी को रजोगुणी कार्य व तमोगुणी को तमोगुणी कार्य करवाये। वृत्तियों के कार्य तत्तत्-वृत्ति वालों को शीघ्र सुलभ होते हैं।

आत्मविश्वास तो सर्व प्रथम आवश्यक है। निस्संदेह विश्वास होता है तभी सर्व इच्छाएँ पूर्ण होती हैं। विधान तो अपनी जगह ठीक है परन्तु विश्वास अपना ही नहीं तो कुछ नहीं होगा। क्योंकि आत्मा के ही आधार पर सारा संसार उत्पत्ति स्थिति व विलय प्राप्त करता है।

मंत्रों में हर मंत्र में पंचभूतों के बीजाक्षर लँ, वँ, रँ, यँ, वँ, अँ व सः आदि षटचक्रों में अपने-अपने देवों के आकरों रंगों व वाहनों के सत्य होते हैं। इन षटचक्रों में ग्रहों के ही किरणों के रंग व उनके वाहन (तारासमूह) व तदनुसार उन बीजाक्षरों के उच्चारण सातत्य से उन उन नक्षत्रों के प्रभाव की नाड़ियों के घर्षण द्वारा उन-उन रंगों की जागृति होकर उनके द्वारा नक्षत्रों तक कल्पना तरंगें पहुँचायी जाकर उन ग्रहों के पिन्डों या उनके विशिष्ट मनों से सम्बन्धित होकर 'इच्छित' की पूर्ति उनका आह्वान आकर्षण आदि होते हैं। यह सत्य है।

सृष्टि के आदि में सृष्टि रचना के विधाता के संकल्प से रचित विधि विधान से ही जब कभी जगत का हर अंश उत्पन्न होता स्थित रहता व मिटता है। अतः जप में उस विधाता तक मन से ही पहुँचकर यदि स्मरण कराया जाय कि आपकी ही प्रतिज्ञानुसार विधि पूर्वक यह कार्य हो रहा है, अब आपही जाने व कार्य पूर्णता न होने से आपकी ही विधि को दोष न लगे। परन्तु ऐसा होता नहीं है। पूर्ण विधि का फल सदैव प्रत्यक्ष यथोचित ही होता है।

मंत्र विज्ञान में (कभी-कभी यह भी देखा गया है) यह आवश्यक नहीं कि हमारा विश्वास ही हो परन्तु विधि आपही तत्फल लाती है। विश्वास और विधि में बहुत अन्तर है। विश्वास का सम्बन्ध सीधा आत्मा से है। विश्वास असंभव को भी संभव बना देता है। विधि अपने अनुसार कार्य करती है। जैसे जल में हलदी डालते ही जल पीला हो जाय यहाँ विश्वास की आवश्यकता नहीं है। इसी प्रकार मंत्रविज्ञान में एक उसका अपना विज्ञान है।

अब देखिये ! हर शरीर पंचभूतों का है। हर नक्षत्र व तारागणों की धरती पर किरणें आ रही हैं। हर किरण का अपना प्रभाव है—नाद है, आकार है। हवा के दबाव से भिन्न-भिन्न प्रकार की यहाँ सृष्टि होती है। सृष्टि के हर पदार्थ चाहे सूक्ष्म से स्थूल हो उसकी अपनी एक सभा हैं जो इस

अन्तराकाश में सदैव रहती है। आप स्थूल को कितने बार मिटायें वह फिर उत्पन्न होता रहता है। इसी को हर पदार्थ का रचयिता 'देव' कहा गया है जिसका अपना दिव्य प्रकाशमय रूप है। प्राण की सूक्ष्म तरंगों से घर्षित नाड़ियों के द्वारा सूक्ष्म अक्षरों की उत्पत्ति होती हैं तथा स्वरों के उच्चारणों की सतत तरंगों से वे मंत्र स्पष्ट तरंगित होते-होते उनका सम्बन्ध आकाश स्थ 'देव' से होता है जिसके द्वारा दिशा, आकार व दूरी में वह पदार्थ जहाँ हो वहाँ से लाया जा सके। ये ही स्वर लहरियाँ 'कामना' के संयोग से वहीं तक पहुँचकर उस पदार्थ को घेरती हैं, स्पर्श करके चेतना देती हैं तथा खींचकर लाती हैं चाहे वह पदार्थ यहाँ हो चाहे विश्व के किसी भी उस लोक में हो। यही स्वर लहरियाँ अव्यक्त जो अभी न भी हो तो भी निर्माण कर सकती हैं।

जिस प्रकार यज्ञ धूम से निकली धूम के द्वारा एक प्रकार की लेसर किरण उत्पन्न होकर आकाश को चीरती हुई अन्तरिक्ष में पहुँचकर फैलती हुई बादल रूप में आती है तद्वत अन्त:करण एवं इन मंत्र स्वरों की तरंगों से एक विचित्र तरंग मंडल तब तक एवं वहाँ तक बनना आवश्यक होता है जहाँ तक उस पदार्थ को वह पूर्णतः घेर ले, अपने कब्जे में कर ले। इसका अनुभव होता है कि पदार्थ घिर गया है। जब हमें हर्ष होने लगे, जप में भार राहित्य ज्ञात हो, विश्वास होने लगे अन्तरिक्ष आपके मंत्रस्वर लहरियों के साथ हिलता सा ज्ञात होने लगे तो मानो मंत्र सिद्ध हो गया है। अब आपका आत्मविश्वास आत्मस्वरूप के ज्ञान के अनुसार यदि विश्वाधार है तो आपके संकल्प का कोई भी बाधक नहीं होगा। क्योंकि एक ही मंत्र को एक साथ साधक बाधक भी जप सकते हैं।

सर्वत्र शब्द भरा है, रेडियो स्पष्ट करता है। सर्वत्र हर रूप स्थित है टेलीविजन सिद्ध करता है। हर पदार्थ शब्द पकड़ता है रेकार्ड स्पष्ट करता है। शब्द का सम्बन्ध क्योंकि सूक्ष्म है, आकाश का शब्द है, अतः सर्व से है ही। संकल्प मानस लहरियों का सम्बन्ध भी सभी से है क्योंकि सृष्टि मानसी ही है। एवं आपका भी क्योंकि आप आत्मा हैं आपका सम्बन्ध तो सदा से सबसे अखण्ड है ही।

मंत्र उद्देश्य एवं विधि सही है तो आपको पूर्ण विश्वास कर ही लेना चाहिये। यदि यह पूर्ण नहीं है तो आपका विश्वास केवल इतना करेगा कि सही विधि के ज्ञाताओं को आपके सम्मुख ला देगा।

लोक भी हैं लोक के देवता भी हैं, हरेक की अपनी भाषा रुचियाँ व भिन्न-भिन्न स्वभावानुसार वृत्तियाँ व खाद्य हैं। मंत्र स्वर लहरियों से उन तक प्राण संयोग से पहुँचते हैं। उसकी शक्ति उसके शरीर को विकम्पित करने लगती हैं। आपकी चित्त वृत्ति उसके चित्त को आंदोलित करती हैं एवं आपका अपना आप जो कि वहाँ भी वही है—उसे अपनी ओर उन शरीरों को या उनसे जिस कार्य पदार्थ को अपेक्षा होती है, उसे भेजने को प्रेरित करता है।

इस तरह मंत्र एवं जप एक रहस्यमय विज्ञान है जिसे धारण कर ऋषि महर्षियों ने सृष्टि के वे सम्पूर्ण रहस्य खोजे हैं जिन्हें भगवान् के रहस्य कहा जाता है। तथा वे महापुरुष अमोघ शक्ति सम्पन्न होकर विश्व में साड़ेतीन हाथ वाले हम जैसे शरीर के होने पर भी विश्व को हिलाने की शक्ति रखते थे।

दो शब्द और ! यदि इस रहस्य को गौर से पढ़ें समझें तो यहाँ केवल अपने आपका ही सृष्टि विज्ञान है। इसे समझकर दीनता दुःख एवं बंधन न रहकर जन्म एवं पाप व पापकृत समस्त दोषों की निवृत्ति होती है। इसीलिए 'जपान पापक्षयः'। जप से पापों का क्षालन होता है। यह भी कहा है कि, जन्म पाप विनिर्मुक्तः जप इत्यभिश्चियेत। "अर्थात् जन्म व पाप से मुक्त करनेवाला जप कहलाता है। 'यज्ञानां जपयज्ञोस्मि' गीता में कृष्ण ने जो कहा है कि जप माने स्वयम्' जप केवल आपकी महिमा का उद्घाटन करता है। आप में दीनता तो आना ही नहीं चाहिये। जो कभी यदि दीन है तो उसे पहले यह समझाकर फिर ही जप देना चाहिये। अन्यथा जैसी भावना तैसी ही सिद्धि। क्योंकि आप आत्मा होने से आपकी जैसी भावना उसके विपरीत फल देने की हिम्मत किसी में नहीं है। अतः जप रहस्य को समझना अत्यावश्यक है तथा इसमें केवल अपने आपका ही महत्त्व है।

• •

१६.

व्यास पूजा-गुरु पूर्णिमा

आसाढ़ शुक्ल पूर्णमासी हमारे भारत वर्ष के लिये सर्व श्रेष्ठ पर्व है जिस दिन भारत के हर घर में हर व्यक्ति अपने-अपने गुरूदेव को उनसे प्राप्त विद्या के प्रति कृतज्ञ होकर श्रद्धांजलि अर्पित करता है। उस दिन भारत में भी सर्वदा गुरू एवं शिष्य के आशिर्वाद व श्रद्धांजलियों का दर्शन हो सकता है। इस तरह हर गुरू परम्परा की स्मृति में सीधे आदि गुरु नारायण तक पहुँच जाता है। उस दिन भारत ही नहीं समस्त त्रैलोक्य गुरू पूजा में संलग्न होता है। देवगण ब्रह्मपति की पूजा में तो असुरादि शुक्राचार्य की पूजा में रहते हैं। यों वह दिन आकारमन्डल में एक ही भावना से ओत-प्रोत परम पवित्र होता है।

हमारे भारत के लिये महर्षि व्यास की महती कृपा है जिन्होंने समस्त ज्ञान संग्रंथित कर मानव भक्त को दिया है। उनकी श्रद्धांजलि में इसे व्यास पूर्णमासी भी कहते हैं।

चतुर्मास के प्रारम्भ में हर सन्त जो पैदल ही यात्रा करते थे जहाँ ही प्रथम वर्षा होती वहीं रह जाते अतः उनका वही चातुर्मास्य होता था क्योंकि यात्रा में नदी तालाबों की अड़चन होती थी। परन्तु इसी बहाने श्रद्धावान जनमानस को उनके अमूल्य उपदेशों का लाभ होकर जीवन क्लेश रहित होता था तथा मोक्ष लाभ भी होता था। आज भी यही परम्परा है।

वर्षाऋतु के आगमन में बादलों के कारण एवं ज्योतिपिण्डों की गतियों के कारण अन्य सब ग्रहों की अपेक्षा गुरू नक्षत्र के ही प्रकाश का पृथ्वी पर अधिकार होता है। तदनुसार यहाँ भी उसी नक्षत्र किरणों से उद्दीप्त ज्ञानाधिकारी गुरूजन धरती पर ज्ञानलोक में जनता को ज्ञान वर्षा से तृप्त करते हैं।

वर्षा में निर्मल जल ही मृत्तिका से मिलकर मलीन हो जाता है अतः उसे शुद्ध बनाये रखना अत्यन्त आवश्यक है। यद्यपि जल चतुर्मास के बाद स्वयम निर्मल हो जाता है। तद्वत चतुर्मास में सूर्यादि के प्रकाशाभाव के कारण गंदे पेट से उत्पन्न कृमियों द्वारा देहस्थ जल भी गंदा हो होकर मन को अशुद्ध कर सकता है जिसके प्रभाव में सामाजिक संगठन की कड़ियाँ टूट सकती हैं अतः सन्त महानुभावों के संग से यह शुक्र का वेग जो दक्षिणायन के कारण (दक्षिण नक्षत्र उसके अधिकार में होते हैं) अधिक हो नही पाता तथा मानव तब से ऊपर शुद्ध चित्त के रूप में होकर परमतत्व में विलीन होता है।

शुक्र को यदि गुरू का संग न मिले तो वह असुर बना सकता है। शुक्र का रंग श्वेत नील होता है असुर का भी यही रूप है। परन्तु जहाँ शुक्र पोत रूप धारण कर ओज बना कि वह गुरू होकर देवताओं का संगी होता है। अन्यथा यही शुक्र वर्षाऋतु में भोगासक्त कर अंधेरे में छुपाता हुआ भोगी रोगी एवं दुखी करके असुरों (कामादि विकारों) का संगी बनाकर मानव को गिरा देता है।

मानव सब कुछ कर सकता है परन्तु इस वीर्य के अधोवेग को बिना सन्तों के संग के कभी नहीं रोक पाता न उसका सदुपयोग ही ले पाता है। सदगुरुओं के सम्मुख जो स्वाभाविक श्रद्धा उत्पन्न होती है बस, यही श्रद्धा उस आसुरो या दैवी शक्ति को संग्रहीत व स्तंभित कर महान से महान कार्य करवाती है।

देह के साथ चिपटना इन्द्रियों के साथ खेलना व रोना तो सहज सबको सुलभ है परन्तु इनसे अतीत उठकर समाज एवं विश्व का निष्काम भावना से कल्याण करने की स्वाभाविक वृत्ति एवं निजात्मज्ञान बिना सन्तों की कृपा व संग के कदापि संभव नहीं है।

कार्तिक मास में जहाँ सरितायें शुद्ध जलवती हो जाती हैं। चतुर्मास तक अपने अमृत वचनों व संग के प्रभाव से सन्त भी प्रेमियों की चित्त सरिताओं को ब्रह्मचारी कार्तिक भगवान का आदर्श बनाकर 'अग्रहण' (अगहन) पोषणरूप पौष व निष्पाप (माघ) की ओर उन्मुख करके सभी फल एवं गुणों से समृद्ध (फालगुन) होने का इशारा देकर चल देते हैं। इस तरह यह गुरू पूर्णमासी पर्व भारत को सदा-सदा से शुद्ध करता

हुआ आया है तथा भारतीयों को अपने शुद्धिकर्ताओं की ओर सदा उत्सुकता भरी आँखों से प्रतीक्षा करवाता रहा है व रहेगा। शुक्र के साथ गुरू (विवेक) को इसी से जोड़ी है। इसी से बिना दोनों के विवाह नहीं होते।

जिन्होंने सन्तों गुरूओं से अपना सुधार व शान्ति पाई है वे ही इसका रस जानते हैं एवं उन्हीं द्वारा यह सुपर्व मनाया जाता है। वैसे तो हर किसी को कुछ न कुछ मिलता है तो किसी के द्वारा हो श्रम हर व्यक्ति दाता का महत्व जानता है। परन्तु सच्चे दाता वे हो जो सर्वस्व दान करके भी पुजवाने की चाह बिना केवल कल्याण कामना से ही विचरण करते हों। उनके पदरज की धूल से सतत् धारा तीर्थ ही हो गई है। भारत सम्पूर्ण तीर्थ ही है क्योंकि ऐसे ही महानुभावों से यह धारा का हर कण सतत रौंदी जाती है। इसलिये यह देश गुरू देश है जहाँ गुरूओं का सदैव अवतार एवं वास रहता है। गुरू की महिमा अवर्णनीय है।

'बोलो सदगुरू दे भगवान की जय'

जीव को ब्रह्मतत्त्व में आरूढ़ करने वाले हैं तो एक सदगुरू देव ही। ईश्वर रूप होता हुआ भी व्यथित रहता है यह जीव। उसके अज्ञान को हटाकर निज ब्रह्मत्व में स्थित करनेवाले सद्गुरू ईश्वर से भी बढ़कर हैं। आंखें खुलने पर पट्टी खोलने वाले डाक्टर की आंखें जिस समय एक अंधा देख लेता है उस समय उसकी कितनी कृतज्ञता होती है वह तो वही जानता है जिसकी खुलती हैं। डॉक्टर चाहे भूल जाय रोगी को परन्तु रोगी उस ज्योति दाता को कदापि नहीं भूल सकता।

जगत में फँसना फँसाना सरल है परन्तु उससे निर्मोह रहते हुये उसका सदुपयोग करते हुये अपने भगवत पद को पाना तथा उसी में मुक्त रहना व अन्य को करना कठिनतम है जो केवल भारतीय सन्तों ने ही किया है। भारती ये सन्त के समान अन्यत्र दुर्लभ है।

• •

१७.

भाव के दो रूप

एक ही 'भाव' जिसको 'अस्ति', सत्ता, सत्य कहते हैं वही है। परन्तु जगत सर्वत्र जहाँ भी दिखाई देता है उभयरूपों में दिखता है। अल्प महान, एक देशवाला सर्वव्यापक, बलहीन सर्वशक्तिमान इन दो रूपों में भी वास्तव में एक ही वह 'भाव' दिखाई देता है। परन्तु दो रूप में दिखता है केवल उपाधि द्वारा। यद्यपि जहां भी ये होते हैं, एकेक के सम्पूरक ही होते हैं, विरोधी नहीं तथा एकेक में मिलने के लिये आतुर से दिखाई देते हैं। यदि स्वाभाविकता से ये दो होते तो कदापि किसी भी प्रयत्न से मिलन न हो पाता। जीव ईश, रूप भक्त भगवत रूप तथा आत्मा परब्रह्मरूप न होता। दो नहीं हैं इसीलिये यह हुआ करता है। ज्यामिति के एडजेसेन्ट (adjacent angles) कोनो की तरह ये कदापि दो नही, न एकेक के विरोधी। एक ही जब अपनी सभा को जो सर्व में है, किसी देह या इन्द्रियों में से देखता है तभी अन्दर बाहर का भेद हो जाता है यद्यपि देखने वाले की दृष्टि से दो नही हैं, दिखनेवाले दो हैं—एक यह शरीर व एक बाह्य विश्व। अतः एक ही भाव दो रूपों में कल्पित ही हुआ होता है, यथार्थ नही।

अल्पज्ञ सर्वज्ञ रूप में प्रतीत होनेवाली एक ही वृत्ति है जिसमें दो भाव व्यावहारिक रूप से कल्पित कर लिये गये। जैसे प्याज का गट्ठा एक परन्तु छीलने में अनेक पर्तें दिखाई देती हैं। परन्तु गट्ठे से छिलके या छिलकों से गट्ठा अलग नहीं है। जिस भाव से छोटा बड़ा, यहां वहां, ऐसा वैसा, अब तब, इधर उधर, मैं तू आदि कल्पित किये हैं वह दोनो में है एवं दोनो उसी में हैं अन्यथा दोनो की व्याख्या व दोनो की पृथक सत्तायें कहाँ से कल्पित की जातीं ? नाटक के बुद्धू व बुद्धिमान पात्रों में दोनों में दोनों की कला का ज्ञान रहता है एवं दोनों ही अपनी-अपनी कला को बड़ी बुद्धिमानी से करते

हैं। अर्थात् बुद्धिमानी को छुपाकर एक बुद्धिमान बुद्धूपने का एवं एक बुद्धूपने को छुपाकर बुद्धिमानी का पाठ खेलते हैं। होते हैं दोनों ही बुद्धिमान। तद्वत् एक ही 'भाव' दोनों व्यावहारिक द्वन्द्वात्मक भावों का सफल चित्रण कर रहा है। एक अपने भाव को न देखकर ही कल्पित ये ब्रह्म दो भाव प्रतीत होते हैं। परन्तु अपनी सत्ता को देखते ही ये भी एवं आप भी एक ही हैं। इसी कारण द्वैत को काल्पनिक कहते हैं। इसीलिये भक्त भगवान से मिल जाता है। मिलने का कोई बिन्दु न होता तो कैसे मिलता ? जिसे यह भेद समझ में आया उसे कोई भेद नहीं रहता। एवं वही समष्टि व्यष्टि दोनो ही कलाओं को अपने में बड़े सहज रूप से प्रदर्शित करता है। इसी को अवतार योगी, तपी, व सिद्ध कहते हैं। एक आत्म (अपने आपका) दर्शन करके ही यह सिद्धावस्था प्राप्त होती है। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' यह वेदोक्ति यहा सार्थक होती है।

चाहे कितना भी भेद हो छोटे में बड़ा व बड़े में छोटा बड़ी खूबी से सर्वत्र रखा हुआ है। क्योंकि एक ही 'भाव' उभयरूपों में क्रीड़ा कर रहा है। यही 'भाव' स्वआत्मा, परमात्मा स्वयम् रूप में शास्त्रों वेदों में वर्णित है।

• •

१८.

जप 'शुभ' का होता है

जप एक विज्ञान है। इसके बारे में किसी अलग लेख में बतायेंगे परन्तु जप जिसमें एक वैज्ञानिक प्राकृतिक नियमानुसार इष्ट को साक्षात् पकड़कर लाने का बला होता है उसका साथ पकड़कर भी जब कोई जापक इष्ट के लिये ऐसे रोता है दीन होता है जैसे गुम हो गया हो तो हँसी एवं दया ही आती है। बिना समझे समझाये सच में किसी को कोई साधन न दे। यदि दे तो समझा कर साधन प्राप्त होने पर तो इष्ट पर विजय का विश्वास होना चाहिये। क्योंकि साधन उसी को प्राप्त कराने का अचूक ठेकेदार है—माध्यम है। परन्तु यही जिसे ज्ञात न हो कि साधन करेगा मन एवं मन से वह जगत एवं वह जगदाधिष्ठान कदापि भिन्न व दूर नही है तो उसे इस निश्चय के अनुसार जितनी देर लगती या अशान्ति अधीरता होती है व न लगे। जहाँ भी चूक है साधन के फिटिंग की, न कि इष्ट की। गलत साधन या सहयोगी सामग्री की अप्राप्ति या अस्थिर अज्ञ अशान्त मन ये ही तीनों दोष होते हैं।

शरीर से तो माला हर समय छोटी ही होती है। उससे भी छोटा भारी एवं उससे भी छोटा अर्थात् सूक्ष्म मंत्र। परन्तु मंत्र शक्ति आदि जितनी भी सूक्ष्म सत्तायें होती हैं उतनी ही वो व्यापक एवं शक्तिमान होती हैं। मन सबसे सूक्ष्म हैं आने वाली विभूतियों में—परन्तु यह वह शक्ति है जो खुद ही संसार की समस्त शक्तियों को खींचती, उपयोग करती एवं त्यागनो, निरादर करती है। क्योंकि सूक्ष्म शक्ति का संग्राहक तथा शक्तिदाता यही है। इससे कोई भी बाह्य-जगत दूर नही है। और वह ईश्वर परमात्मा तो बिल्कुल भी दूर नही है वरन् यह स्वयम् जापक भी वही है।

फिर भी जब कोई जापक जप करता हुआ बरसों दिखाई देता है और वह भी रोता कुढ़ता उदास तो लगता है इसका ईष्ट गुम हो गया है। और

उसने आज तक अपना पता इसे नहीं दिया है। जब तक सबलमन नही होता कोई भी साधन सिद्ध नही होता। क्योंकि सारा जगत मन ही का मानव रचा हुआ है।

अतः निश्चय यह रहे कि इष्ट यहीं है, सदैव है। तो फिर है का विश्वास कर उसे, अपने मन में संदेह न उठने देते हुये, देखने की उत्कंठा कीजिये तथा वह आता हुआ मन से ही पहले मान कीजिये। और देखिये यदि मनमें आ गया है तो अब और कहां बुलाना चाहते हैं? मनमें आ गया तो आगया। इन्द्रियों में न चाहें, क्योंकि इन्द्रियों मे आने वाले इष्ट का बल घटता रहता है। अपने असली (मन) घर से अलग होकर वह टिकाऊ नहीं रह सकता। मनमें लाइये और इसी मन को उसके साथ सबल होने दीजिये तो आप ही वह हो जायेंगे जिसे चाहते हैं और यही वह सब कुछ कर डालेंगे जो आप चाहते हों। आश्चर्य यह होगा कि हो सब जायगा परन्तु न अभिमान आपको होता न दीनता। परमात्मा सदैव सर्वत्र पूर्ण का पूर्ण विराजमान है। जैसे आप हैं यहां वैसा ही वह है। तो फिर जप किसका करते हैं? 'सर्व रूप' पास में होने पर भी किसके लिये रो रहे हैं आप? परमात्मा को, अपनी ही शक्तियों को 'गुम' न समझें और शीघ्र ही लाभ लें इच्छित को इस प्रकार सुलभ न देखकर सभी साधनों से श्रद्धा हटती आ रही है अब। क्या आपका परमात्मा गुम हो गया है? नहीं। तो फिर केवल उसके नाम की गिनती से लाभ न होगा। उसका विचार करे, पहचानें तो यहीं प्रगट हो जायेगा। वह तो सदैव 'आप' रूप से ही यहां भी स्थित है। जप नही दीनता मिटायें। ज+प का अर्थ है जन्म पाप की निवृत्ति। आप जपते भी हैं और आपको अभी भी दोनों का भय है। यह कैसा जप? समझकर जपें। समझकर विश्वास से जपें। जप का प्रत्यक्ष फल तुरन्त एवं अमोघ होता है। न आप न 'आपका' अपना आप—परमात्मा ही गुम है भाई?

• •

१९.

अवतार-वाद (गुण-दोष)

विश्व कल्याण के लिये इस धरा पर आये श्री भगवद् विग्रहों के समान अन्यत्र कहीं नहीं हैं। अवतार नित्य एवं नैमित्तिक रूप से दो होते हैं। नित्य रूप से सन्त ऋषिमहर्षि योगी तपस्वी एवं धर्मनिष्ठ तपस्वी राजागण तथा नैमित्तिक रूप में भगवान श्रीराम श्रीकृष्ण श्री शंकर भगवान तथा कल्की भगवान। दोनो ही धर्म की स्थापना व अधर्म को नाश करते रहते हैं।

इन दोनों का महत्त्व है। मानव को अपने जीवन को उठाने के लिये आदर्श के बिना असंभवता ही है। और ये सब आदर्श इसी कारण अनुकरणीय हैं।

जब जब जिस भी क्षेत्र पर पीड़ित धर्मशील जनमानस अपनी शक्ति विभूति व बुद्धि के अहंकार की असमर्थता देखते हैं तभी शान्ति सुरक्षा एवं सुख के लिये एवं प्रपीड़क उस दुष्ट अधर्मी के विनाश के लिये जो सामुहिक हर मन से व्यापक परमात्मशक्ति का आकर्षण होता है तदनुसार ही, जितना विरोधी बलवान होता है उसी अनुपात से प्रतिरोधी रूप से अवतार हुवा करता है। इनमें अप्रतिम आकर्षण शक्ति बुद्धि एवं धर्म का वैचित्र्य होता है। सबके द्वारा आकर्षित, सबकी शुद्ध भावना से निर्मित, सबके द्वारा सुसज्जित विवाह मंडप में जानेवाली 'वधू' के सदृश अवतारों में महान सौंदर्य आदि विभूतियाँ होती हैं जिन्हें एक व्यक्ति अपनी साधना से कदापि नहीं पा सकता। परन्तु हाँ उनके आदर्शों का अनुगमन करके अपने जीवन को विशुद्ध बनाकर जीवनका आनन्द लिया जा सकता है।

भोगी मानव अपने भोग के पीछे परिणाम को न देखकर अनेकों दुष्कर्मों के फल प्रताप से दुःख अशांति बंधन एवं दुष्टजन को पाते हैं और तभी उन्हें

अपनी उस पीड़ा की समाप्ति की इच्छा होती है। परन्तु वे स्वयम् अकेले कभी उसे टाल नहीं पाते निज कर्मफल होने के कारण। इसलिए अवतार रूप से ब्रह्म की विशेष शक्ति आवश्यक होती है। इनकी पूजा अर्चना व आज्ञा पालन जब ये हों तब भी एवं जब न हों तब भी करते रहने से उत्तम जीवन बनता ही है।

अपने से उच्च जीवन के प्रति आदर एवं श्रद्धा हो ही जाती हैं। अतः जहाँ आदर एवं श्रद्धा होगी वहाँ विनय तो होगा ही। विनय से व्यक्ति आदर्शानुरूप होता है। विनयी कायर नहीं होता—स्वाभिमानी होता है। विनय एवं दीनता में अन्तर है। विनय धर्म निष्ठ करता है जो स्वाभिमान को खोता नहीं। परन्तु दीन व्यक्ति स्वार्थ के कारण ही दीन होता है। कामना ही दीन करती है। भक्ति एवं पूजा का अर्थ यह नहीं कि हम दीन बने। विनयी अवश्य बनें। विनयी का सर्वथा उत्थान होता है। दीन दलित होता ही जाता है।

हमारा धर्म हमें अवतारों के प्रति विनयी होने को प्रेरणा देता है—दीन होने को नहीं। हनुमान विनयी थे दीन नहीं। भोगी कामनावाला एवं कपटी दीन होता है। विनयी नित नूतन निर्विषयी-निष्काम एवं शुद्ध होकर स्वाभिमानी स्वात्मनिष्ठ एवं स्वात्मज्ञानी होता जाता है। दीन को माँगने पर भी विभूतियां नहीं मिलती हैं—मिलने पर भी टिकती नहीं। विनयी को बिन मांगे विभूतियां मिलती हैं मिलने पर टिकती भी हैं। हनुमान ने मांगा नही पर मिली व टिकीं भी।

अवतारों के या आदर्शों के पूजन में हम अपने सिवा अपना जितना दूषित हो, सब त्यागें खोयें। अपना आप जहाँ विशुद्ध निर्दोष रह जायेगा उसे खोने, विलीन होने की आवश्यकता न पड़ेगी। उसमें स्वाभाविक ही शुद्ध में शुद्ध मिलने के नियमानुसार भगवत तत्त्व भी मिल जायेगा। शुद्धि होने पर दो रह ही नहीं सकते। अशुद्धि कामना व दीनता ही है। विनयी, धर्म का, एवं दीन पदार्थ का महत्त्व रखता है। जहां कहीं 'दीन' शब्द से गुणगान किया है वहां भी दीन शब्द का ध्वन्यार्थ विनयी ही है, दीन नहीं। केवल बस इसके रहस्य को न समझकर आचार्यों में एवं उपासकों ने भी इतनी पूजा अच्छी भक्तिका प्रचार एवं अभिमान करते हुये भी आज वीर, धीर तेजस्वी एवं

परिस्थिति परिवर्तक बलवान नहीं पैदा हो पा रहे हैं। वर्तमान भौतिक शिक्षालयों से अहंकारी एवं दीन व्यक्ति भले ही निर्माण होते हों परन्तु धर्म-शिक्षालयों से दीन नहीं वीर निर्विषयी एवम् तेजस्वी ही निर्माण होते आये हैं। आज धर्म शिक्षक यदि इस ओर ध्यान दें तो देश फिर अपने तेज को प्राप्त कर बदल सके। वे इसी में अपनी इति कर्तव्यता न समझें कि उनके उपदेशों के प्रभाव में श्रोता इतने निश्चय कर उठें कि वे कुछ भी करने में असमर्थ हैं—सब कुछ वे परमात्मा ही करेंगे। आज ऐसे उपदेशकों की आवश्यकता है जो यह पाठ पढ़ा सकें कि यदि भगवान न भी हों तो तुम्हारी ही कोखों से वे उत्पन्न करे। (तुम्हीं सती-पतियों ने आदर्श तनुधारी अवतारों को हर समाज के क्षेत्र से अवतीर्ण किया है। क्योंकि अवतार नैमित्तक हर समय नहीं होते, सब उनके लोभी प्रेमी, उनके बिना वर्तमानकाल में कैसे रहें तथा उन अवतारों के ही काल में जो उनके न मिल सकें न देख सकें वे भी कैसे रहें? कैसे मुक्त हुये। ऐसे रहें कि उन्होंने अपने-अपने अनुकूल आवश्यक शक्ति बुद्धि धर्म की शक्तियों को निर्माण कर जीवन सफल कर सकें। यह कभी हो सकता है कि भक्त विनयी तो बने, शक्ति विश्वास तो इसका ले परन्तु उसका परीक्षण एवं प्रयोग करने की हिम्मत रखता हुआ आप दीन न रहे।

अवतारों के विग्रहों में रहने वाले चित्र उनको अपने में भी पहचानकर उसके बल पर युग निर्माण की शक्ति हासिल करे। Let there be no god, me will creat Him. अभी ईश्वर नहीं है न सही, हम उसे निर्माण करेंगे। इस प्रकार के दृढ़ भावना वालों ने ही कभी पूर्व में भी अवतार धारण करवाये थे। अतः हमें आज अवतार नहीं, अवतार के आधार चाहिये। और निर्माण किये जा सकते हैं। रो पीटकर स्वाभिमान खोकर नहीं विनय एवं स्वात्म विश्वास से। भारतीय धर्म का यही आदेश है।

आश्चर्य तो तब होता है जब अवतार स्वयम् आते हुए यही कहते हुए जीवन खपाते हैं कि मैं ही सब में हूँ सब मैं हूँ, मुझे न समझो जो देख रहे हो अपने से भिन्न न समझो। परन्तु उनके रहते हुये एवं जाते ही 'वही ऐसे थे, हम तो कुछ नहीं हैं' इस प्रकार दीन भरा रोदन शुरू हो जाता है। क्या ये दीन व्यक्ति हजार उपासना के बावजूद कुछ कर पाते हैं? शबरी एवं

विदुराणी ने जो बेर या छिलके दिये उनसे भले भगवान खुश रहे हों परन्तु वे बेर या छिलके आज न भी हों तो क्या हम चुप बैठे रहें ? पेट नहीं भरते ? हर्ष नहीं मनाते ? धरती जल अगनी वायु सूर्य चन्द्र एवं मानव रूप भगवान अब भी तो स्वयम मौजूद हैं ? क्यों दुःख मनाया जाय ? भगवान तो हैं ही मानव पशु-पक्षी आदि रूप में आकर भगवत अवतारों ने किसे छोटा बनाया है ? परन्तु समझें तब न ?

मेरी दृष्टि से अवतार उत्तम हैं परन्तु उसी में दीन होकर निज को विलुप्त करके वर्तमान को पंगू कर देना गलत है—वाद बनाना गलत है। क्यों न अवतारवाद को मानते हुये हम स्वयम अवतार धारण करें ? अवतार हर समय नहीं होते तो फिर हम बनें। एवं वर्तमान को सुधारने का प्रयत्न करें। आज इसी शिक्षा की आवश्यकता है। अवतारों की भक्ति का यही तात्पर्य है। जिस जाति में इस अर्थ के साधन से साधना होती है वह जाति अवतारों की जाति होती है। वह अमर रहेगी।

● ●

२०.

ये मन के माने भगवान्

बड़ी दुर्दशा है इन भगवानो की जो मन के माने होते हैं। जब मन आया मान लिया नहीं तोड़ दिया, फेंक दिया, डुबा दिया, ठुकरा दिया। पूजा न पूजा। विचारे कुछ भी विरोध नहीं कर सकते। पता नहीं शायद इस समय इन देवताओं का असली भगवान् मन ही होता है। अतः जैसे इनके मन में आप तब तक यह खेले महत्त्व दे—परन्तु जिस मन से इन्हें महत्त्व मिले उससे ही जादा जब ये अकड़ने लगें तो यह मन चाहे उन्हें फेंक दे, तिरस्कार कर दे और जिसे चाहे फिर नया भगवत् पद दे दे।

इन मन्दिरों में जिनमें खूबसूरती है, अच्छे पुजारी हैं, खूब प्रसाष हैं, रौनक है, हर देवता अच्छा लगता है, चाहे पुराने से पुराना हो। परन्तु मन में न रूचे किसी से खुटपुट हो तो वे भी जो खंडहर में कुत्ते बिल्ली पंछियों से शुद्ध किये जाते हों—मकड़ी के जालों से ढँके हों—पसन्द आते हैं। क्योंकि मन जो मान गया। अर्थात् जहाँ यह देवत्व दे दे वहीं देवता को बैठना पड़े, कहना पड़े। जिसके पास देवत्व देने का बलि हो वह चाहे जहाँ उन्हें स्थापित कर सकता है। इसका जहाँ अपमान हो वहाँ सबका अपमान है।

सारे ही देवता, उनकी पवित्रता, विभूतियाँ, पूजा के प्रकार, पूजा की सामग्रि, समय आदि इसी महादेव मन की निर्मित हैं। अतः इसकी यह अन्तर की भावना की मुझे मान देते रहे। और सभी पूजा पाते रहो सर्वत्र दिखाई देती है। पुजारी रूठ जाये, मालिक रूठ जाय, दर्शनार्थि रूठ जाय, कोई रूठ जाय, किसी का भी मन रूठ जाय कि इन मन्दिरों देवताओं की रौनक का पलायन ही समझो।

अतः यह स्पष्ट है कि इस मन की प्रसन्नता बिना सर्वत्र बेवता माने हुवे भगवानों की दुर्दशा ही है। यदि मन्दिर छोड़कर यह मन पशु-पची, नदी, पहाड़, वृच्च, आकाश सितारे, या निराकार साकार किसी में देवभाव आरोपित करले उन्हें 'मैं देवता नहीं हूँ' यह कहने का दम नहीं है। और उन्हीं में से यह मनचाहा फल लेने लगता है। बड़ा भगवान तो यही है। और भगवानो के भगवान्-मन-को जिसने इस स्वभाव वाला पाल रखा है उस अपने आपका जब स्मरण आजा दे और उस समय यदि अपनी बात यह मन न माने तो इसे भी छुट्टी दे दी जाती है। जाओ, समाधि में, नींद में वेहोसी में। मैं तुम्हारे विना रह सकता हूँ। इसीलिये यह मन हमसे भिन्न चाहे किसी को माने या न माने बना रह सकता है परन्तु अपने को तो मानकर ही यह रहता है। क्योंकि इसका विश्राम स्थान, बलका आधार आप ही हैं। नींद में इसे ये मन के माने भगवान् नहीं, स्वयम् भगवान् ही थपथपा कर सुलाते हैं। अपना बिछौना किसे खराव लगेगा? इसी एक कमजोरी के कि इसके आराम का कोई भी बिस्मरा इसे बाह्य कहीं नहीं मिलता पर सदा स्वयम् (मुझ) से कायल रहता है। तो सबसे महान् भगवान् इस मन रूप भग (विभूति) में भी जो है वही मन के दसों दरवाजों में उनसे दिखनेवाले देवताओं में बाहर भीतर रहता है। इसी को मन मानता हैं। औरों को नहीं। इसीलिये ध्यान के समय इन किसी भी बाहर के देवताओं में नरीझ कर परम शान्त अपने आपमें बिना कोई विषय के भी आराम करता हुआ, घंटो बिता देता है। अतः जिसका मन निज में नहीं वह कहीं नहीं रह सकता। निज तृप्त सो नित्य तृप्त। बाकी ये बाह्य भगवान् तो अपने पास रहनेवाले भ्रष्टाचार को भी नहीं मिटा पाते। बोलो स्वयम् भगवान् की जय। परन्तु स्वयम् भगवान् तो अपने मन का स्वामी है।

• •

२१.

भक्ति-दिलग्गी 'और' की बरबादी

भक्ति एक दिलग्गी है—भक्त भगवान्, व्यष्टि समाष्टि, जीव ईश्वर की। भक्त भगवान् में व भगवान् भक्त में, व्यष्टि समष्टि में व समष्टि व्यष्टि में, जीव ईश्वर में तो ईश्वर जीव में अपनेपन को समर्पित करने को उतारू हैं। इसीलिये भक्ति एक क्रीड़ा है, दिलग्गी है, लीला है। जिसका जिससे दिल लगा उसके लिये वह अपना माना हुआ सब कुछ लुटाने में तैयार रहता है। यदि भक्त कहता है कि प्रभू मेरा कुछ नहीं, यह मेरा सब तेरा है, तो तुरन्त ही उधर से उत्तर मिलता है कि तो मेरी यह माया भी मेरी नहीं है, तेरी ही है। परन्तु यदि भक्त (उसे दी जानेवाली) माया को भी उधर ही लौटा देता है और वह भी (जिसके लिये अपनी व उसकी माया आनेका भय हो वह) 'खुद' भी उसमें अर्पण कर देता है—"मैं भी तेरा हूँ–" तो उधर से भी यही उत्तर आता है कि तो फिर मैं भी तेरा हूँ। अपने सिवा अपना माना हुआ 'और' जहाँ अर्पण किया गया कि इधर-उधर का यह 'और' इधर-उधर हो जाता है।

भक्त जीव की भावनानुसार 'और' रूप भगवान् है जिसे वह प्राप्त करना चाहता है। पर जहाँ उसने प्रभू की ओर से अपना 'और' पना उसमें अर्पण कर दिया कि उधर का 'और' पना भी इधर समर्पित हो जाता है। अर्थात् 'और' नहीं रहता। यह 'और' जो दोनों में दोनों को दुःख देता रहता है यदि इसी की बरबादी न हुई तो भक्ति ही क्या है? समर्पण ही क्या है?

अर्थात् भक्ति माने इस 'और' की बरबादी। जहाँ यह 'मैं और हूँ' और 'वह और है' यह भाव जिन्दा है तब तक न भक्त को चैन न भगवान् को। इसीलिये वह भी यही कहता है कि समर्पण करदे। न यह याद रहे कि कोई और है न याद करनेवाला।

यदि यह हृदय का निर्माण किया हुआ व्यर्थ 'और' नष्ट नहीं हुआ तो हर ओर 'और और' का यह भूत सब कुछ प्राप्त कर लेने पर भी 'और और' करता हुआ अतृप्त रहता है। अतः और करनेवाला यह कोई 'और' ही है जो बाकी-बाकी करते बाकी ही बना रहता है। इस 'बाकी' को जान लेने पर बाकी कुछ नहीं रह जाता। और इस बाकी को और (दूसरा) फिर नहीं लगता। जब और कुछ नहीं तो बाकी क्या? अतः जहाँ दोनों ओर से 'और' न रहे तभी बाकी कुछ नहीं रहता और शेष बाकी जो रहता है वह 'और' नहीं रहता। इस बाकी की बाकी झाँकी जिसने आँकी उसके लिये 'और' के लिये कहीं ठौर नहीं रहता। वही सबका सिरमौर' निकल आता है।

जरा सा भी 'और पन' बाकी है तो सारा 'पन' बरबाद है। यह वह पनघट है जहाँ सारे पन घटते हैं। इसीलिये कोई योग्य साधक अपने में इसको शेष नहीं रहने देता। जिधर है अब एक ही है। अतः छोटा सा सूत्र याद करें, "भक्ति माने 'और' की बरबादी"। स्वेच्छा से, प्रसन्नता से, जान समझकर की हुई बरबादी ही भक्ति है। अपना अपने को उसके सिवा कुछ न रहे बस, हो गई बरबादी। और फिर है ही नहीं। न व्यवहार में, न परमार्थ में। ऐसा सन्त हरि ही है। वही धन्य है जिसका 'और' बरबाद होकर वह स्वयम् और का और ही हो गया होता है।

२२.

सच्चे भक्त

एक बार मन्दिर में कोई भक्त आर्त भाव से प्रभू से कह रहा था 'प्रभो बहुत दुःखी हूँ। कृपा करो भगवान कि इसको आप लो और अब तो सुखी करो।'

प्रकाश वहीं सुन रहा था। विचार आया कि दुनिया को दुःख देने के कारण तो इसे दुःख था ही परन्तु भक्ति के नाम पर प्रभू को भी दुःख देने लगा। प्रभू को दुःख देकर यह कैसे सुख पायेगा ? यहाँ तो जो दिया जाता है वही मिलता है ऐसा नियम है। इसके सिवा यदि देना ही था तो वह यह दे सकता था कि प्रभो अभी भी जो सुख बाकी है वह भी आप ले लें परन्तु मुझे दुःख न दें तो भी अच्छा था। जरा जरा सी बात पर प्रभू को ही कष्ट देनेवाले भी कोई भक्त कहलाते हैं ? भक्ति वही जो अपने कारण कहीं कष्ट तो नहीं हो रहा है, यह सोचे ! जो जिससे प्रेम करता है वह उसे दुःख नहीं सुनाता न देता है। परन्तु यदि प्रेमी को यह ज्ञान हो जाय कि यह अपना दुःख कभी नहीं सुनायेगा, हृदय में भी नहीं लायेगा तो हृदयस्थ प्रभू क्या वहाँ दुःख रहने देगा ? जो प्रभू की इतनी चिन्ता करे कि आनन्दरूप प्रभू के आनन्द में मेरे कारण कहीं रंचमर भी दुःख न पहुँचे, उस भक्त के लिये प्रभू भी सदैव बिना कहे ही रंच मात्र भी दुःख वहाँ न पहुँचने देंगे। सुदामा ने कुछ न कहा न मांगा तो प्रभू को पहले ही सब व्यवस्था करनी पड़ी। दुःख सुनाने चले थे सुदामा, परन्तु कहा और जो अच्छी चीज (चावल) भावकी लाये थे वह भगवान को सौंप दिया। अच्छी चीज भाव के साथ प्रसन्नता निर्माण कराई और सुदामा विभूतियाँ तो पाए ही प्रेम भी न गया उनका।

यह कठिन अवश्य है परन्तु जिसे सध गया उसे कभी कोई दुःख नहीं है। क्या आपका प्रभू से प्रेम है तो उसे कृपया दुःख न दें। गुरू, शिष्य, भक्त भगवान पुत्र, स्त्री पति पिता भाई बहन राजा-प्रजा के लिये साथी को कष्ट न होने दे। सुख न दे सकें तो कम से कम दुःख न दें, यही एक प्रण हो जाय तो यहाँ दुःख रह ही नहीं सकता। ऐसा दुःख न देने की भावना में सहज स्वभाव फिर क्या है ? केवल वही जिसे वह ढूँढ़ता रहता है—भगवान।

आप खुद सोचें कि यदि आपका कोई ऐसा परम प्रेमी है जिसे आप कभी भी दु:ख में नहीं देखना चाहते और आप यह भी जानते हैं कि वह कभी आपको न बतायेगा न लिखेगा। सब बताये क्या आप सदैव इस बात को नहीं सोचेंगे कि उसे मालूम न पड़े और आप उसके दुःख को मिटा दें या उस तक न पहुँचने दें ? यदि उसे यह संकोच है कि मेरे दुःख को जानने पर आप कहीं दुःखी न हो जाएँ इसलिए वह कभी न बताने की सावधानी रखे तो आप भी यही चाहेंगे कि उसे मालूम हुये बिना उसका हर दु.ख आप मिटाते रहें। बस, इस विशुद्ध रस भीने प्रेम का मजा यही है। भक्त जो इस प्रेम में उन्मत्त हैं न उन्हें कोई दुःख ही है न उनका प्रियतम उनसे दूर है। वह तो उन पर दीवाना होता है दीवाना। और आप स्वयम् सोचें कि दुनिया के पीछे दीवानों का एवं दुनिया की चीजें दीवाना हो जाय जिस पर उनमें सुख है या कि प्रभू जिनपर दीवाना हो जाय उसे सुख है ? जिसका विशुद्ध प्रेम हो और किसी को भी दु.ख न देने की दृढ़ भावना हो वह विश्व का शासक होता है। हृदय से बोलिये सर्वे भवन्तु सुखिना सर्वे सन्तु निरामयः सर्वे भद्राणि पश्यएतु माकश्चिद्दुःख भाग्यचेत। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

• •

२३.

प्रथमावश्यक सर्ववशीकरणं भावं

सुख चाहिये, शान्ति चाहिये, स्वास्थ्य चाहिये, गुण चाहिये, भोग एवं मोक्ष चाहिये। देवता चाहिये, परमात्मा चाहिये, शक्ति चाहिये, सब चाहिये परन्तु ...... परन्तु सबके पहले क्या चाहिये जिससे ये सब प्राप्त हो सकें? जिस एक के बिना ये सब प्राप्त होना असम्भव एवं जिस एक के प्राप्त होने पर बाकी इन सबको न बुलाने की आवश्यकता हो एवं आने पर जाने की हिम्मत भी न हो वह क्या है? जिस खुशबू को, जिस शहद के उदय होते-होते बिना बुलाये भ्रमर एवं मधुकर आने लगते हैं, उसको जिसके यहाँ जागते ही यहीं के मानव क्या आकाशस्थ देवता भी टपाटप नीचे उतरने लगते हैं एवं अपना सब कुछ लुट जाने का उन्हें डर हो जाता है, अपना सब कुछ देकर भी वे जिस एक के क्षण स्वाद के पीछे दीवाने हो जाते हैं, वह क्या है? जिसके न होने पर सब प्राप्त होनेवाले ये विभूतिधारी अपनी विभूतियों को उसके आगे उड़ेलने में दु खी नहीं होते वह यदि प्राप्त नहीं तो क्या ऐश्वर्य की महिमा? और वही है तो और क्या चाहिये?

आप पूछेंगे कि वह क्या?... तो वह है केवल निष्काम प्रेम। इसी एक के लिये इस पर न्योछावर होते हैं वे सब देवता, पशुपक्षी मानव-दानव, यक्ष किन्नर, गन्धर्व, भूत पिशाच, प्रेत राक्षस-यावत् सम्पूर्ण जगत् इसी एक पर कुरबान है। क्यों? योंकि इसके बिना ही सब कुछ के ये अपार कि इन्हें प्राप्त करने की धुन में अनेकों कष्टों के बावजूद प्राप्त करने पर भी वह न पाये। अपने-अपने माने इनके पुत्रों पर प्रेमियों पर सब कुछ लुटाने में लगे रहने पर भी यह निष्काम प्रेम, जो भी इन्हें कहीं दिखाई-सुनाई देता है—ये स्वर्ग छोड़कर अपनी सम्पूर्ण विभूतियों को उसके चरणों में रखते भी

हिचकिचाते नहीं। परन्तु जब वह निष्काम प्रेमीजन से प्रेम तो करता है परन्तु लेता कुछ नहीं तो ये उसके ऋणी हो जाते हैं, केवल एक प्रेम की झलक पाकर।

अतः यही सब से पहले चाहिये। आज इसी की कमी है। निष्काम प्रेम करके देखो तो सही। वह, जो तुम्हारी जरूरत का होता है वह तो मिलेगा ही और भी मिलेगा और वह होगा प्रेम। चारो ओर तुम्हे प्रेम मिलेगा। परन्तु मिलेगा निष्काम प्रेम करने से। मिलने की भावना से न करो। करो ही, वह अवश्य लौटता है। अकेला नहीं, विभूतियों के साथ लौटेगा। ध्यान रहे कि प्रेम बिना विभूतियाँ चुभती रहेंगी, उड़ेलने फेंकने की इच्छा बनी रहेगी। परन्तु प्रेम में सराबोर विभूतियाँ जिसमें किसी के हित में अर्पण होने की भावना रहे सदैव शान्ति सुख एवं प्रेम का साम्राज्य भरती रहेंगी। और···और···सच बतायें जब ऐसा निष्काम प्रेम का चारों ओर आपको अमृत बिखरा-बिखरा मिलेगा जो आपने फैलाया है—तो उससे अन्य परमात्मा कोई न रहेगा। परमात्मा माने प्रेमामृत, प्रेम माने परमात्मा। जो परमात्मा में रस है वही इसमें है। अतः सबके चाहने वालो पहले निष्काम प्रेम करो और कुछ न चाहने वालों! तुम भी प्रेम ही करो। निष्काम प्रेम कर्त्ता और कोई नहीं स्वयम् ही परमात्मा है परमात्मा।

● ●

२३.

प्रथमा

सुख च
मोक्ष चाहिये
परन्तु ……
जिस एक के
बाकी इन स
भी न हो
होते बिना
जागते ही
लगते हैं एव
कुछ देकर
क्या है ?
विभूतियों
क्या ऐश्वर्य

आप
के लिये इस
यक्ष किन्न
पर कुरबान
इन्हें प्राप्त
न पाये ।
लगे रहने
ये स्वर्ण छं

इस पुस्तक में····

"भक्तिकाल में 'ज्ञान' के सहयोग के रूप में यह साधन है यह भूलकर जो साधकों को कठिनाइयाँ आती हैं उन्हीं के निराकरण में प्रस्तुत कुछ लेख हैं। पाठक स्व-शोधन द्वारा 'स्व' में स्थिति कर भक्ति को पूर्ण करें व अपने स्वयं वर रूप राम को प्राप्त कर प्रमुदित हों।"

—प्रकाशानन्द वेदान्त केशरी

लेखक की अन्य पुस्तकें